हिन्दी भक्ति-काव्य

रामरतन भटनागर, एम्० ए०, डी० फ़िल०

किताब महल ० प्रकाशक ० इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४८

—किताब महल, ५६ ए ज़ीरोरोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—रामसरन अग्रवाल, प्रगति प्रेस, ३ अ ड्रमण्ड रोड, इलाहाबाद।

प्राक्कथन

प्राचीन हिन्दी काव्य में जो सर्वश्रेष्ठ है वह भक्ति-काव्य की विभिन्न धाराओं से सम्बन्धित काव्य के अंतर्गत आ जाता है। धर्म, दर्शन, काव्य और व्यक्तिगत साधना का ऐसा सुन्दर समन्वय और कहीं भी मिलना कठिन है। सूरदास, तुलसीदास, कबीर, नंददास, हितहरिवंश, दादू और न जाने कितने संतों और भक्तों की जीवन-व्यापी साधना आज हमारे सामने इसी माध्यम से पहुँचती है।—और उसमें तप और विश्वास का इतना बल है कि आज तीन शताब्दियों के बाद भी हम भाव-विभोर हो जाते हैं। अविश्वास, नास्तिकता और बर्बरता के इस युग में मनुष्य के अंतर्जगत और उसके व्यक्तित्व के नवनिर्माण के लिए इसमें बहुत कुछ मिलेगा।

कल्पना, अनुभूति और आध्यात्मिक स्फूर्ति द्वारा मनुष्य ने प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में इसी पृथ्वी पर स्वर्ग उतारना चाहा है। वैष्णव भक्तों का स्वर्ग आज भी उतना ही आकर्षक है जितना उनके युग में था। इस स्वर्ग में सब कुछ है। जो यहाँ है, वह इससे अच्छे रूप में कहीं नहीं मिलेगा। जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है। इतनी बड़ी भाव-विभूति, इतनी बड़ी प्रेम और विरह की साधना, इष्टदेव का इतना ऐश्वर्य, कल्पना और कला का इतना विलास, संगीत की इतनी माधुरी, दर्शन की इतनी नभचुंबी उड़ान।

—इतनी बड़ी विभूति को किन मूल्यों पर आँका जाये, इतने थोड़े पृष्ठों में कैसे आँका जाय? आलोचक इस विभूति के सामने नतमस्तक है। 'सुनहु सूर यह साँच कि विभ्रम सपन किधौं दिनरैन'

सूर-जयंती, १२ मई, १९४८]

रामरतन भटनागर

अनुक्रम

१ भक्ति-काव्य की पृष्ठ-भूमि	...	...	१—१०
२ भक्ति-साहित्य की दार्शनिक और धार्मिक पृष्ठ-भूमि			११—४४
२ (क) मध्ययुग के सम्प्रदाय और पन्थ		...	४५—६४
३ निर्गुण भक्ति-काव्य	...	...	६५—८२
४ सगुण भक्ति-काव्य	...	...	८३—१२७
५ कुछ प्रधान भक्त कवि	...	...	१२८—२१२
६ भक्ति-काव्य का कला-पक्ष	...	...	२१३—२३०
७ हिन्दी काव्यधारा में भक्ति-काव्य का स्थान		...	२३१—२३६

१

भक्ति-काव्य की पृष्ठ-भूमि

राजनैतिक परिस्थिति

तांत्रिक-काल के अन्त में ११९३ ई० से १२०६ ई० तक के अन्तर्गत हमारी राजनैतिक सत्ता विदेशी शासकों के आधीन हो गई। इसके पश्चात् उत्तरी भारत पर दो राजवंशों का शासन रहा। १२०६ से १५२६ तक सुलतान वंश और तदुपरांत मुग़ल वंश। इसके अतिरिक्त दिल्ली के केन्द्र में विदेशी शासकों की ही शक्ति रही। परन्तु समस्त राजपूताना, बुंदेलखंड आदि में हिन्दू शासकों का ही राज रहा। अतएव आधे उत्तर भारत में स्वदेशी राज्य थे। देशी शासक पूर्णतय: लुप्त नहीं हुए थे। १५२७ ई० में राणासाँगा और बाबर में युद्ध हुआ और साँगा ने एक बार हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसकी अभिलाषा स्वप्न-मात्र ही रही। यह परिस्थिति लगभग १८०० तक चलती रही। यद्यपि दिल्ली के साम्राज्य के अन्तर्गत बसनेवाली प्रजा राजनैतिक दृष्टि से विदेशी सत्ता के आधीन थी परन्तु एक तरह से ग्रामीण जनता विदेशी सत्ता के सम्पर्क में नहीं आ सकी थी। वह कर देकर ही निश्चिंत रहती थी। ग्रामीण पंचायत ही ग्रामीण द्वन्दों का निर्णय कर देती थी। सन् १५२७ में राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तन हुआ। अंतिम सुलतान इब्राहीम लोदी के समय में बाबर का आक्रमण, पानीपत के क्षेत्र में बाबर की विजय और फलत: मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना हुई जो लगभग १८०० ई० तक बना रहा।

सांस्कृतिक परिस्थिति

संस्कृति की दृष्टि से सुलतानों ने न तो भारतीय संस्कृति को जानने ही का प्रयत्न किया और न उन्होंने उसमें हस्त-क्षेप किया; किन्तु मुग़लों ने इसके विपरीत इस ओर विशेष ध्यान दिया और मिश्रित (ईरानी-भारतीय) संस्कृति की स्थापना की। इसके पूर्व भी तथा इनके काल में भी जो हिन्दू जनता धर्म परिवर्तन करके मुसलमान हो गई थी उसने अपनी हिन्दू संस्कृति को ही सुरक्षित रखना इष्ट समझा। इस प्रकार मुसलमानों के भी दो दल—विदेशी मुसलिम और नवमुसलिम—हो गए। ईरानी संस्कृति के प्रभाव के कारण मुग़ल शासकों में भारतीय संस्कृति के प्रति सहानुभूति रही क्योंकि ईरानी संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अंग थी।

सामाजिक स्थिति

पिछले काल में व्यवसाय और स्थान की दृष्टि से इस देश में अनेक उपजातियाँ हो गई थीं जैसे स्थान की दृष्टि से माथुर, सरयूपारीण आदि और व्यवसाय की दृष्टि से चमार, तेली, धोबी आदि। इस काल में बिरादरी की संस्था निश्चित रूप से विकसित हो गई थी। भक्ति-काल में उपजातियों का संगठन हुआ। इन उपजातियों में परस्पर खान-पान इत्यादि भेद-भाव मुसलमानों के समय में ही बढ़ा। इस संबंध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण यह है कि यह उपजाति-व्यवस्था ही हमारे राष्ट्रीय पतन का मुख्य कारण थी, क्योंकि इस प्रकार देश अनेक भागों में विभक्त हो गया और फिर संगठित न ो सका। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि इस उपजाति-व्यवस्था के कारण मारी संस्कृति को बहुत सहायता मिली। १२०० के पूर्व भारतीय ाज, धर्म और शिक्षा आदि की व्यवस्था हमारे ही शासकों के हाथ थी, परन्तु तत्पश्चात् ये व्यवस्थाएँ अमित्र या देशी संस्कृति से भिन्न कियों के हाथ में चली गईं। इस परिस्थिति में यदि बिरादरी की संस्था न बनाई जाती तो भारत की प्राचीन संस्कृति के चिह्न भी न

मिलते। इन बिरादरी की संस्थाओं ने विदेशी संस्थाओं के प्रति एक प्रकार का असहयोग आन्दोलन किया। असहयोग का ध्येय अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखना था। प्रादेशिक सम्प्रदाय इसलिये स्थापित हुए कि इस प्रकार संस्कृति की रक्षा अधिक सरलता से हो सकती थी। दंड देने का विधान किया गया और समाज को ही अपने हाथों दंड का अधिकार लेना पड़ा। इससे विवाह-संबंधी समस्याएँ जटिल बन गईं। बाल-विवाह, विधवा-विवाह का बहिष्कार, और सती-प्रथा आदि कुप्रथाएँ विशेषरूप से इस काल में प्रचलित थीं। परदे की प्रथा मुसलमानों के ही संपर्क से आई। उच्च श्रेणी के धनी-मानी मुसलमानों की स्त्रियाँ परदे में चलती थीं। उनकी देखा-देखी परदा यहाँ भी चल पड़ा, विशेषकर उत्तर भारत के नगरों के उच्चवर्ग के हिन्दुओं में। परन्तु जो प्रांत मुसलमानों के संपर्क में अधिक नहीं आये थे, वे इस प्रथा से मुक्त थे।

धार्मिक परिस्थिति

इस्लाम धर्म और राजा का धर्म एक हो गया था, अतः यह स्वाभाविक था कि इसका प्रचार शीघ्रता से होता। इस नवीन धर्म ने भारतीय समाज में एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। परन्तु मुख्य धार्मिक धाराएँ हिन्दू जनता को ही लेकर चलती थीं।

भक्ति काव्य में हिंदी प्रदेश में पाँच धार्मिक धाराएँ चल रही थीं :—

(१) मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा जिसे शासकों का सहारा मिल रहा था।

(२) सूफ़ी प्रेमाश्रयी धारा जिसे ईरानी संस्कृति और इस्लामी विचारधारा का सहारा मिला था।

(३) हठयोग की धारा जिसका विशेष विकास पिछले काल में हो चुका था।

(४) सहजयोगी निर्गुणमत की ज्ञानाश्रयी धारा जिसमें प्रेम का भी सहयोग था।

(५) वैष्णव धारा जिसमें भक्ति का प्रधान स्थान था। इसके कई रूप विकसित हुए--विष्णुभक्ति, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, राधाभक्ति। इन पाँचों धाराओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया। ये धाराएँ वरावर समानान्तर चलती रहीं। रीति-काल के आरम्भ तक हम इनमें से लगभग सभी धाराओं को चलता हुआ पाते हैं। फिर धीरे-धीरे इनमें कुछ का वल घट गया, परन्तु किसी का भी लोप नहीं हुआ। भक्ति-काल की जिस विचारधारा का प्रकाशन साहित्य में हुआ, उसका परिचय प्राप्त करने के लिए इनमें से प्रत्येक का समझना आवश्यक है।

भारतवर्ष में जव इस्लाम का प्रचार हुआ तो उसके अन्तर्गत केवल धार्मिक भावनाएँ ही सीमित नहीं थीं। अतएव भारत के मुसलमानों के संपर्क में आने पर भारतीयों पर केवल धार्मिक विचारावली का ही प्रभाव नहीं पड़ा, प्रत्युत इस्लामी संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव अनेक रूपों में विकसित हुआ। कुछ हिन्दुओं ने तो हिन्दू-धर्म को त्यागकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। उत्तर भारत में ही अधिकांश धर्म-परिवर्तन हुए। पंजाव तथा वंगाल में ५० प्रतिशत जनता और मध्य प्रदेश में २५ प्रतिशत जनता ने धर्म-परिवर्तन किया। हिंदी प्रदेश में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण इस्लाम का अधिक प्रचार नहीं हो सका। कुछ हिन्दुओं ने धर्म-परिवर्तन तो नहीं किया, परन्तु उन्होंने इस्लामी संस्कृति को स्वीकार कर लिया अर्थात् उन पर संस्कृति का ही प्रभाव पड़ा। फ़ारसी का पठन-पाठन, मुसलमानों का रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि इन्होंने अपनाये। इस वर्ग के अंतर्गत अधिकांश संख्या में कायस्थ और काश्मीरी थे। जनता की विचारावली पर भी इस्लामी प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ, इस्लाम धर्म में ऐकेश्वरवाद पर अटल विश्वास था। यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन

काल से ही ईश्वर एक माना जाता था, परन्तु मुसलमानों के आने तक हिन्दी प्रदेश में अनेकेश्वरवाद पर आस्था हो गई।

इस्लाम धर्म में पैगम्बर की कल्पना थी। इसी के अनुसार भारतवर्ष में भी भक्ति-काल के अनेक सम्प्रदायों के संचालक व्यक्तियों को भी मोहम्मद का-सा ही स्थान दिया गया। तदनुसार वल्लभाचार्य, रामानुज, कबीर, नानक आदि को ईश्वर तक पहुँचाने में सहायक मानकर उन पर बड़ी श्रद्धा की गई। मुसलमानी ऐकेश्वरवादी धारा का साहित्य हिन्दी में नहीं है। उसका थोड़ा-सा प्रभाव ही संत साहित्य में लक्षित है जैसे मूर्ति-खंडन, अवतारवाद का विरोध, ऐकेश्वर का कट्टर समर्थन, यद्यपि निर्गुण संतमत के एकेश्वरवाद में और मुसलमानी ऐकेश्वरवाद में मौलिक अंतर है। मुसलमानी ऐकेश्वरवाद में ईश्वर के ऐश्वर्य की ही प्रधानता है और मनुष्य से उसका सम्बन्ध भय और दंड का है, संतों का ऐकेश्वरवाद सूफ़ी भावना से प्रभावित होकर माधुर्य और प्रेम पर खड़ा है।

सूफ़ी प्रेमाश्रयी धारा के संबंध में यह कहा जाता है कि वह भारतीय अद्वैतवाद और भक्ति से प्रभावित है जिसका प्रवेश बहुत पहले ईरान में हुआ था। इसमें साधक भक्त विरह की भावना से ईश्वर के नैकट्य को प्राप्त करना चाहता था।

५—भक्ति-काल की धार्मिक धाराओं में सबसे महत्वपूर्ण वैष्णव धारा है। भक्ति-काल के धार्मिक क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस काल में पौराणिक धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म को एक नूतन रूप मिलता है। अतएव भक्ति-सम्प्रदायों का मूल प्राचीन काल के वासुदेव धर्म में मिलता है। इस काल की वैष्णव-भक्ति का विकास तीन भागों में किया जा सकता है।

क—वासुदेव-सुधार-काल—इसका समय ६०० ई० पूर्व से २०० ई० पूर्व तक है। नारायणीय धर्म या वैष्णव धर्म इसके ही पर्यायवाची

हैं। इस काल के अन्तर्गत इसका प्रचार उत्तर भारत में हुआ। इसके पश्चात् यहाँ वैष्णव धर्म लुप्त तो नहीं हो गया, परन्तु कुछ क्षीण-सा हो गया।

ख—२०० ई० पूर्व के पश्चात् वैष्णव धर्म दक्षिण भारत में चला गया। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म प्रबल था। सम्भवतः मथुरा के निकटवर्ती कुछ वैष्णव दक्षिण की ओर गये और उन्होंने वहाँ वैष्णव मत का प्रचार किया। २०० ई० पूर्व से १२०० ई० तक वैष्णव धर्म दक्षिण में ही प्रमुख रूप से रहा। दक्षिण में वैष्णव धर्म से सम्बन्ध रखने वाले कुछ लेखक हुए हैं जिनमें अलवार प्रसिद्ध हैं। यह पाँचवी-छठी शताब्दी में वर्तमान थे। ये सन्त थे और भक्ति-प्रधान पदों की रचना करते थे। १००० और १३०० के बीच दक्षिण में चार महान् आचार्य हुए—निम्बार्क, मध्वचार्य, रामानुज और विष्णु स्वामी। इन्होंने वैष्णव धर्म-सम्बंधी धार्मिक ग्रंथों की रचना की और स्वयं वैष्णव धर्म के प्रचार में सहायक हुए।

ग—भक्ति के विकास में तृतीय काल (१३०० ई० से १८०० ई०) तक माना जाता है। उत्तर भारत में रामानन्द, वल्लभाचार्य, हित हरिवंश आदि विशेष रूप से भक्ति सम्प्रदायों के प्रवर्तक हुए। रामानन्द रामानुज की, वल्लभाचार्य विष्णु स्वामी की, हित हरिवंश मध्वाचार्य की और विद्यापति निम्बार्काचार्य की भक्ति-परम्परा के भक्त थे। इनके द्वारा अनेक भक्ति-सम्प्रदायों की स्थापना हुई। इन सभी सम्प्रदायों में विष्णु के किसी न किसी रूप की उपासना होती थी अथवा किसी न किसी अवतार की पूजा होती थी। यद्यपि आरम्भ में राम, कृष्ण आदि विष्णु के अवतार माने गये, परन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुआ और वे सीधे परब्रह्म के रूप माने जाने लगे। तुलसी, सूर आदि भक्ति कवियों ने अपने आराध्य देव राम या कृष्ण को विष्णु से भी बढ़कर ब्रह्म-स्वरूप माना है। उनकी उपासना विष्णु द्वारा भी कराई गई है। दार्शनिक दृष्टि से इन सभी सम्प्रदायों के मत अद्वैत से सम्बन्ध

रखते हैं। षट् दर्शनों में वेदान्त अथवा अद्वैत से ही इनका सम्बन्ध अधिक है और ये सभी ईश्वरवादी हैं।

समस्त भक्ति-सम्प्रदायों में भक्त और भगवान के सम्बन्ध में उपासना के स्थान में भक्ति की भावना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। उपासना का अर्थ है परमात्मा के समीप बैठना। योगी भी परमात्मा के निकट योग-साधन से पहुँचता है, अतएव वह भी उपासक हो सकता है, परन्तु इन भक्तों में यौगिक उपासना से भिन्न भक्ति-भावना को ही महत्त्व प्राप्त हुआ है। भक्ति भावना में भजन, प्रार्थना आदि के अतिरिक्त आत्म-समर्पण की भावना भी है। इस प्रकार की भक्ति का उदय उत्तर महायान में ही हो चुका था। परन्तु शीघ्र ही वैष्णव धर्म ने उसी प्रकार की भक्ति का विकास कर लिया जिस प्रकार की भक्ति महायानियों में प्रचलित थी। आत्मसमर्पण-प्रधान भक्ति-साहित्य पहले-पहल दक्षिण में ही मिलता है। कुछ लोगों का यह मत है कि भक्ति की भावना ईसाई मत के प्रचारकों से दक्षिणवालों ने ले ली होगी क्योंकि उस समय दक्षिण में कुछ रोमन कैथोलिक चर्च वर्तमान थे परन्तु वर्तमान खोजों ने इस प्रभाव को नगण्य बना दिया है।

भक्ति का सम्बन्ध संस्कृति के प्रत्येक अंग से था। साम्यभाव की भी इसमें अवस्थिति थी क्योंकि भक्तों का विश्वास था कि भगवान की दृष्टि में सब एक समान हैं। उनकी दृष्टि में न कोई नीचा है न ऊँचा। 'जाँति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥' वैष्णव सम्प्रदाय में उदारता की भावना भी विशेष रूप से मिलती है। अन्य सम्प्रदायों का खण्डन करना किसी भी वैष्णव सम्प्रदाय का दृष्टिकोण नहीं रहा। प्रादेशिक भाषाओं के द्वारा सब सम्प्रदायों ने अपने-अपने मत का प्रचार किया क्योंकि उनका ध्येय था कि उनका मत सर्वसाधारण में फैल जाय। अतएव सर्वसाधारण की भाषा ही उनके प्रचार का साधन और माध्यम हो सकती थी। सभी ग्रन्थ बोली जाने वाली भाषा में लिखे गये, अतएव साहित्य और भाषा पर भी भक्ति का

प्रभाव पड़ा और उसके द्वारा इनका प्रचार हुआ। आरम्भ में इन सभी सम्प्रदायों ने कर्मकांड और नैतिक आदर्श को ऊँचा स्थान नहीं दिया परन्तु धीरे-धीरे इनकी ओर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा और कर्मकांड की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

ऊपर भक्तिकाल की चार भक्ति धाराओं का उल्लेख कर चुके हैं (१) निर्गुण धारा (२) रामभक्ति धारा (३) कृष्णभक्ति धारा (४) निर्गुण प्रेम या सूफ़ी धारा। इन चारों धाराओं ने मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में एक बड़े साहित्य का निर्माण किया। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह साहित्य महत्वपूर्ण है।

भाषा के विचार से एक विचित्र रोचक परिस्थिति मिलती है। संत कवियों ने खड़ी बोली का एक विशिष्ट रूप लेकर अपनी विचार-धारा व्यक्त की। यह हिन्दी थी। किन्तु यह विशुद्ध खड़ी बोली न थी, प्रत्युत इसमें अनेक बोलियों के व्याकरण रूपों और शब्दों को आश्रय मिला था। यद्यपि ढाँचा मुख्यत. खड़ी बोली का था। इस लिए संत कवियों की भाषा पर विचार करने पर अनेक भेद हो जाते हैं। उसमें प्रादेशिक बोलियों के रूप का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग हुआ है। सगुण भक्ति की कृष्ण शाखा में भाषा की दृष्टि से विशेष रूप से ब्रज भाषा का उपयोग हुआ है। ब्रजभाषा से पूर्व शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश दोनों का साहित्य में प्रयोग होता था। ब्रजभाषा शौर-सैनी अपभ्रंश से ही निकली है। वल्लभाचार्य के पूर्व हमें ब्रज की बोली का साहित्यिक प्रयोग नहीं मिलता। रामभक्ति साहित्य प्रमुख रूप से अवधी में लिखा गया। अवधी से पूर्व इस प्रदेश में अर्ध मागधी अपभ्रंश का प्रयोग होता था। इस प्रकार अवधी का साहित्य में प्रयोग कोई नवीन प्रणाली सिद्ध नहीं होता वरन् वह प्राचीन प्रणाली का ही रूपान्तर मात्र था। राम साहित्य में पश्चिमी अवधी का ही प्रयोग हुआ। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी के इसी रूप का ही प्रयोग किया। प्रेममार्गीय सूफ़ियों के साहित्य में पूर्वी

अवधी का प्रयोग हुआ है और उनकी भाषा जनता के अधिक निकट है।

संत साहित्य साखी और शब्दों के रूप में प्रकट हुआ। साखी का छन्द दोहा था। दोहरा अथवा दोहा प्राकृत में ही अधिक प्रयुक्त हुआ था। अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में भी इसकी प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ। शब्द या पद भी एक लौकिक शैली थी। जहाँ तक खोज हुई है यह सिद्ध हुआ है कि यह शैली प्रादेशिक थी, साहित्यिक नहीं। और साधारण जन-समाज में लोक गीतों के रूप में चल रही थी। इस प्रकार संत साहित्य अपने देश की साहित्यिक परम्परा का वाह्य और अन्तरंग दृष्टिकोण से अर्थात् भाषा विषय विवेचन की दृष्टि से प्रतिनिधि नहीं था। शेष ब्रज साहित्य और रामसाहित्य प्राचीन परम्परा के अधिक निकट हैं। ब्रज साहित्य पद के रूप में है। जिसका प्रयोग जयदेव के खंड काव्य 'गीत गोविन्दम्' के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। अनुमान यह होता है कि जयदेव ने लोक गीतों की शैली को अपने काव्य का माध्यम बना लिया था। अवधी साहित्य में जिन मात्रिक छन्दों दोहा, कवित्त, चौपाई आदि छन्दों में हुआ, उनका प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंशकाल में हो चुका था। इन छन्दों का मूल रूप प्राकृत का है, संस्कृत का नहीं। इस प्रकार वाह्यरूप से अर्थात् छन्द और भाषा के स्वरूप की दृष्टि से यह भक्ति-साहित्य प्राचीन साहित्य से मेल नहीं खाता किन्तु विषय की दृष्टि से राम और कृष्ण की सगुण भावना पौराणिक है और इस साहित्य पर 'गीत गोविन्दम्' की छाप है, विशेषकर कृष्ण साहित्य पर। मानस का वाह्य रूप (छन्द) संस्कृति की परिपाटी से भिन्न है परन्तु विषय की दृष्टि से। उसमें जो राम की भावना है वह प्राचीन थी। यद्यपि मानस के राम और वाल्मीकि अथवा अध्यात्म के राम में सूक्ष्म भेद भी अवश्य है।

जायसी ने जनता के बीच में प्रचलित ऐतिहासिक कथाओं को अपना विषय चुना। ये कथायें जन-भावनाओं के प्रवेश के कारण

रूपान्तर प्राप्त कर चुकी थीं। अतः जायसी और उनका अनुकरण करने वाले सूफ़ी कवियों में ऐतिहासिकता का रूप विकृत हो गया है। जायसी की रचना फ़ारसी की मसनवियों की रूपरेखा से प्रभावित है। उनका सबसे बड़ा महत्व यह है कि उनकी शैली ने हमारे सबसे बड़े कवि और मध्ययुग के सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ पर प्रभाव डाला। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ी साहित्य का विषय लौकिक और जनता में प्रचलित था यद्यपि भाव धारा और शैली की दृष्टि से उस पर बहुत गहरा विदेशी प्रभाव था। धार्मिक दृष्टि से निर्गुण धारा का सम्बन्ध सिद्ध साहित्य से था। यह धारा मूलतः बौद्धधर्म से प्रभावित थी परन्तु इस पर अन्य प्रादेशिक प्रभाव भी पड़े थे। इस प्राचीन योग धारा के अतिरिक्त इस काव्य की विचारावली के प्रमुख भाव भक्ति पर तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन का भी प्रभाव था। एक प्रकार से इसमें रामानन्दी भक्ति का सम्मिश्रण हो गया था। सगुण भक्ति की कृष्ण साखा पर दो प्रभाव मुख्य हैं। एक तो स्वामी भक्ति आन्दोलन का भी प्रभाव और दूसरे स्मृति विचारावली का प्रभाव। प्राचीन स्मृतियों और पुराणों में जिन प्राचीन धार्मिक आचार-विचारों का विधान है और जिन्हें विदेशी लेखकों ने ब्राह्मनिज्म (ब्राह्मणमत) कहा है उसने इस काव्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। सगुण भक्ति की राम-शाखा में भी ये दोनों प्रभाव मिलते हैं। मानस का कोई भी पाठक उसके स्मार्त भाव की प्रबलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता परन्तु उसमें भक्ति का स्थान भी न्यून या गौण नहीं है। यदि हम तुलसी या सूरदास की तुलना करें तो हमें तुलसी में सनातनी विचारधारा की अधिकता दिखाई देगी। इन दोनों राम-कृष्ण भक्ति धाराओं पर मुसलमानों का प्रभाव बहुत कम पड़ा। निर्गुण प्रेम मार्गी साहित्य में सूफ़ी भावना प्रमुख थी परन्तु इसके साथ भारतीय विचारावली (पुराण और अद्वैत दर्शन) का अद्भुत सम्मिश्रण था।

—*—

२

भक्ति साहित्य की दार्शनिक और धार्मिक पृष्ठ-भूमि

भक्ति-साहित्य को समझने के लिए उसके काव्य-गुण की विवेचना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि इस साहित्य में विषय का महत्व काव्य-गुण से कम नहीं है। वास्तव में भक्तों का ध्येय एक विशेष धार्मिक जगत् की सृष्टि करना रहा है। उनका साहित्य जहाँ एक ओर उनकी साधना को व्यक्त करता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें किसी हद तक प्रचार की भावना भी सन्निहित है। उसके दो दृढ़ आधार हैं। एक दर्शन जिसकी प्रतिष्ठा आचार्य करते थे और जिसमें ब्रह्म, जीव और संसार एवं इन तीनों के सम्बन्ध पर विचार किया जाता था; दूसरे वे धर्म-भाव जो उस समय जन-साधारण में विशेष परिस्थितियों के कारण चल रहे थे और जिन्हें समय-समय पर आचार्यों और धर्म नेताओं ने निचले स्तर से ऊपर उठाने की चेष्टा की है।

भक्ति-काल के प्रारम्भिक दार्शनिक विचारों के मूल में बौद्ध दर्शन को परास्त करने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। अतः पहिले बौद्ध दर्शन की रूपरेखा दे देना उचित होगा।

१ दार्शनिक पृष्ठ-भूमि

१---बौद्धधर्म ब्राह्मणयुग के यज्ञ-याग, पशुबलि और कर्मकांड के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था। वह कर्मकांड विरोधी और अहिंसक था। अतएव बौद्ध दर्शन अहिंसा को परमधर्म मानता था। उसके अनुसार शील, समाधि और प्रजायज्ञ ही उत्कृष्ट यज्ञ हैं।

२—जीवन दुखमय है। जीवन और उसके सुखों की लालसा दुख-मूलक है। उस लालसा के नष्ट हो जाने से दुख का नाश होता है। पवित्र जीवन से यह लालसा नष्ट हो जाती है।

३--सब दुखों का मूल कारण तृष्णा है। काम अथवा तृष्णा का सब प्रकार से परित्याग करने से दुख को निरोध होता है। इस तृष्णा के नाश ही का नाम निर्वाण है। यह निर्वाण जीवित अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है।

४--मनुष्य पंच स्कन्धों का बना हुआ विशेष प्रकार का एक संघ है जिसमें विज्ञान स्कंध ही मुख्यतः है। हिन्दू दर्शन में जिसे आत्मा कहा गया है उसे ही बौद्ध दर्शन विज्ञान स्कंध कहता है। यही पंच स्कंधों का संघ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में शरीर धारण करता है इसीका नाम पुनर्जन्म है। विशेष साधनों के अनुष्ठान से इन स्कंधों का अपने मौलिक तत्वों में अन्तर भाव होना ही महानिर्वाण है।

५--बौद्ध दर्शन मूलतः अनीश्वरवादी है। साथ ही वह नास्तिक-वादी भी है। वह वेदों पर कोई आस्था नहीं रखता। उसने 'शून्य" का महत्त्व अवश्य माना है वास्तव में बौद्ध दर्शन में शून्य का स्थान वही है जो हिन्दूदर्शन में ब्रह्म का है। बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त चतुष्टय में निहित है—'सर्वक्षणिकं', 'सर्वशून्यं' आदि। बौद्धदर्शन संन्यास प्रधान है। यद्यपि शङ्कर के समय तक उसका रूप विकृत हो गया था परन्तु आरम्भ में उसका प्रचार संन्यासियों और संन्यासिनियों (भिक्षुओं-भिक्षुणिओं) द्वारा ही हुआ।

परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध दर्शन का प्रारम्भिक रूप बदल गया। उसमें कई दार्शनिक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो गये। महायान में बोधिसत्व की कल्पना हुई। बोधिसत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् समाधि में चित्त को प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा गया। इसके लिए पूजा-विधान का आयोजन हुआ--वंदना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषण,

बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना। इन अनुष्ठानों के साथ मन की परिष्कृति के लिए दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा का उपार्जन आवश्यक था। प्रज्ञा की उत्पत्ति के बाद किसी प्रकार का व्यवहार करने को नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की प्रतीति होती है कि यह दृश्यमान वस्तु जगत माया के सदृश है, तथा स्वप्न की तरह अलीक और मिथ्या है। इसकी व्यावहारिक सत्ता ही है परमार्थिक सत्ता नहीं। इस प्रतीति से समुत्पन्न बोधिचित्त निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय होता है। वह शून्यता का अनुभव करता है। यही 'शून्यवाद' है। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी, शुष्क, निवृत्ति-प्रधान था, परन्तु महायानी दर्शन बोधसत्व की भक्ति और शरणागति का उपदेश करता था। वह एक प्रकार से एकेश्वरवादी और प्रवृत्ति-प्रधान था। महायान के इस रूप का भी विकास हुआ। तंत्र-मंत्र की भी प्रतिष्ठा हुई जिसने मंत्रयान की नींव डाली जिसके आधार पर धरणियों का एक बड़ा साहित्य ही खड़ा हो गया। आगे चलकर मंत्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिसमें मद्य, मंत्र हठयोग तथा मैथुन की शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान तांत्रिक बुद्ध धर्म का विकसित रूप है। दार्शनिक दृष्टि से यह "शून्यवादी" ही है।

दृढं सारमसौ शौर्यं मच्छेद्याभेद्य लक्षणम्।
अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्र मुच्यते॥

(अद्वय वज्र संग्रह, पृ० २३)

(अविनाशी तथा सारभूत होने के कारण शून्यता ही 'वज्र' का वाच्यार्थ है)

बौद्ध दार्शनिक सिद्धातों के प्रति शंकराचार्य को जन्म से बहुत पहले ही प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। जब बौद्ध धर्म का राजाश्रय लुप्त हो गया और धर्म का प्रभाव जनता पर से शिथिल होने लगा

तब बौद्ध धर्म को परास्त करके प्राचीन हिन्दू भाव उभरने लगे।

शंकर अद्वैत

दार्शनिकों ने यह परिस्थिति देखी। उन्होंने उभरते हुये भावों को दर्शन का सहारा दिया। इस तरह उन्होंने बौद्ध धर्म के मूल आधार पर चोट की। भारत में धर्म और दर्शन साथ साथ चलते हैं। दार्शनिकों ने धर्म की ओर मुड़कर देखा है और धर्म ने दार्शनिकों का सहारा पाकर ऊँचे स्तर पर उठकर जन-भावों के परिमार्जन की चेष्टा की है।

प्राचीन पराजित ब्राह्मण धर्म को पुनः स्थापित करने के लिए जहाँ बौद्ध दर्शन को आत्मसात कर लिया गया है, वहाँ उसकी नास्तिकता के विरुद्ध युद्ध किया गया। शांकर अद्वैत को बादरायण के सिद्धान्तों से मिलाने पर उसमें बौद्ध दर्शन की प्रतिक्रिया स्पष्ट लक्षित होती है। शंकर के ब्रह्म की कल्पना बौद्धों के शून्य से मिल जाती है। उनके अद्वैत का मूल्य तत्त्व है "सर्वं खलविदम् ब्रह्म नेहनानास्ति किञ्चन:" उनके सिद्धान्त वाक्य हैं :—

"तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" "सद सदभ्याम् अनिर्वचनीय ब्रह्म"। शंकर के ब्रह्म की यह परिभाषा बौद्धों के शून्य से मिल जाती है और इसीलिए शंकराचार्य 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर ने बौद्धों से उनकी जमीन पर ही मोर्चा लिया और उन्हीं के सिद्धान्त वाक्यों का दूसरी परिभाषा में प्रयोग किया। सर राधाकृष्णन् का कथन है—यह कहा कि ब्राह्मण मत ने बौद्ध मत को गले लगाकर उसके प्राण ले लिए। इस बात में झूठ है भी नहीं। शंकर ने चरम सत्ता के तीन रूप माने हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभाषिक। वस्तुतः पारमार्थिक रूप ही सत्य है। शंकर का ब्रह्म एक प्रकार से निर्गुण ब्रह्म ही है जिसमें माया का वियोग हुआ है। व्यावहारिक सत्ता की योजना की गई है। सांख्ययोग में प्रकृति का जो स्थान है वही शांकर अद्वैत में माया का है। प्रकृति और जीव भी ब्रह्म

ही है, भेद का कारण विकृति या आभास है जैसे रस्सी में साँप का आभास या सीप में चाँदी का। इस विकृति या आभास का कारण माया है। जिसका एक रूप अविद्या है।

अद्वैतवाद में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भक्ति को स्थान नहीं मिल सकता था, परन्तु शंकर की भक्ति रचनाएँ उपलब्ध हैं। जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वह व्यावहारिक रूप से द्वैत भावना (ईश्वर-जीव के भेद) के भी पोषक थे। सत्य तो यह है कि बौद्ध धर्म के परवर्ती रूप महायान ने साधारण जनता में इतनी भक्ति भर दी थी कि कोई भी व्यक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था।

शंकर ने भारतीय चिंतन को दो मुख्य बातें दी हैं। एक ज्ञान को दृश्यमान और अदृश्य जगत का मापदण्ड मानना और दूसरे अद्वैतवाद। की स्थापना करने के लिए शंकर को मायावाद का आविष्कार करना पड़ा। साधारण जनता में उनका यह मायावाद विकृत रूप में पहुँचा। "यह सब दृश्य जगत असत्य है, नाशवान है, माया है।" उनके ज्ञान मूलक दृष्टिकोणने संत-सुधारकों और योगियों को प्रभावित किया। कई शताब्दियों तक भारतीय सुधारक और चिन्तक इस ज्ञान में भक्ति का योग देने में लगे रहे। शंकर ने जनता में वैदिक धर्म की आस्था और वेद के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव भर दिया। दार्शनिक क्षेत्र में उन्होंने अपने दर्शन को 'प्रस्थानत्रयी' (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता) इन तीनों पर लिखकर बाद के आचार्यों के लिए यह समस्या उत्पन्न कर दी कि वे भी अपने सिद्धान्तों को इन्हीं तीन ग्रन्थों पर आरोपित करें। दार्शनिक क्षेत्र में इन ग्रन्थों की ऐसी मान्यता शंकर के ही कारण थी। वास्तव में टीका युग की ग्रन्थों की टीकायें नहीं है, मौलिक मत को मान्य पुस्तकों पर आश्रित करने की चेष्टा मात्र है।

परन्तु जनता में भक्ति का आन्दोलन निरंतर बढ़ रहा था। परिस्थिति विशेष एवं वैयक्तिक भावनाओं के कारण अगले आचार्य शंकर की दार्शनिक मान्यता के विरुद्ध उठ खड़े हुए। शंकर ने व्यावहारिक

पारमार्थिक सत्ताओं की कल्पना करके व्यवहार के लिए पंच देवताओं की पूजा और भक्ति को स्वीकार कर लिया था परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस प्रकार के दो दृष्टिकोण बनाना उचित नहीं समझा। भक्ति के विकास के साथ भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी। उन्हें ध्यान में रखकर इन आचार्यों ने अद्वैत के विभिन्न रूप स्थिर किये और उन्हें धीरे-धीरे द्वैत तक ले गये जो भक्ति-भावना को दृढ़ करने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। यदि हम मध्य युग की दर्शन-चिन्तना के क्रमिक विकास पर ध्यान दें तो हमें अद्वैत से द्वैत की ओर प्रभ्रमण करने और द्वैत तथा अद्वैत सिद्धान्तों में सामञ्जस्य उपस्थित करने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देगी। १२वीं शताब्दी में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत, १३वीं शताब्दी में विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत, १४वीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने द्वैत और १६वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सभी परवर्ती दार्शनिक चिन्तनाओं में ब्रह्म का निरूपण अद्वैतवाद से किसी न किसी रूप में भिन्न है। वास्तव में जनसाधारण निर्गुण, अनिर्वचनीय ब्रह्म की उपासना के लिये अधिक समय तक उत्साहित नहीं रह सकता था। मूल अद्वैती दृष्टिकोण में व्यावहारिक दृष्टि से भक्ति का योग था। परन्तु उसमें परिवर्तन उपस्थित करने का कारण इस युग की भक्ति-भावना ही है। अत्यन्त प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखते और उसकी भक्ति करते हुए आर्य जाति का चिरकाल तक निर्गुणवादी बना रहना बहुत कठिन था।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत

विशिष्टद्वैत के प्रवर्तक रामानुज थे जिनका जन्म सं० १०७४ है। शंकर ने अद्वैतवाद की कल्पना को पुष्ट करने के लिये माया की अवतारणा की थी; परन्तु उनके अद्वैतवाद में बौद्ध शून्य की भावना का योग होने के कारण माया की भावना शीघ्र ही जनता में घुस गई। अन्य भक्तों ने इसे भक्ति में बाधक मानकर इसे दूर करने

की चेष्टा की परन्तु यह माया की भावना आज तक जनता में चली आ रही है। दार्शनिक सिद्धान्तों में सबसे पहले विशिष्टाद्वैत ने माया को अग्राह्य बताया। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव, ब्रह्म और प्रकृति (परब्रह्म, चित् और अचित् या दृश्यम्) तीनों की सत्ता सत्य है। इसीलिए इस सिद्धान्त में माया की आवश्यकता नहीं। ये "पदार्थ नितयम्" सत्य हैं। ब्रह्म और चित् एक ही तत्त्व से निर्मित हैं। उनका अन्तर मायाजनित नहीं है। रामानुज के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाँच प्रकार से होती है—१—अंतर्यामिन् २—सूक्ष्म ३—पूर्णावतार ४—अंशावतार ५—अर्चावतार (मूर्ति)। वास्तव में ये ब्रह्म के क्रमागत स्थूलीकरण की चेष्टा हैं जिसमें युग की सारी जनमान्यताओं का आश्चर्यजनक रीति से समावेश हो गया है। परन्तु जहाँ इनमें से प्रत्येक स्वयं ब्रह्म होने के कारण उपास्य है, वहाँ यह क्रमशः साधक की भिन्न-भिन्न अवस्थायें भी सूचित करते हैं। मूर्ति-पूजा, अंशावतार-पूजा, पूर्णावतार-पूजा, और सूक्ष्म की उपासना को क्रमश पार कर साधक हृदय में अन्तर्यामिन् की अनुभूति प्राप्त करता है।

राजानुज का मत है कि सृजन से पहले चरम सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहती है और जब सृजन प्रारम्भ होता है तो वह सृष्टि का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है। इसके अतिरिक्त सृष्टि उसी की इच्छा से उत्पन्न होती है। यही ब्रह्म अन्तर्यामिन्-रूप में सृष्टि को परिचालित करता है। सृष्टि का बीज-रूप प्रकृति कहलाता है। प्रकृति से अव्यक्त की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त से महत्। इसके बाद सृष्टि के विकास की कल्पना सांख्य के ढंग पर की गई है। महत् से अहंकार। अहंकार से मनस्, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पंच तन-मात्रायें जिनसे पंचभूतों की सृष्टि होती है। इस विकास का कारण भी ईश्वर या ब्रह्म ही है क्योंकि प्रकृति और तत्त्व उसी से प्रचालित है। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो गुणों को

जन्म देता है और उनमें प्रकट होता है। रामानुज के अनुसार, ईश्वर पाँच रूपों में प्रकट होता है। पहला पर—इस रूप में वह वैकुंठ में निवास करता है। यह उसका महत्‌म रूप है। दूसरा व्यूह—यह पर के ही चार रूप हैं: वैकुंठवासी पर-ईश्वर-भक्तों की सुविधा एवं सृष्टि के लिए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनुरुद्ध के शक्ति और तेजस्। तीसरा विभव जिसका प्रधान गुण विभूति या ऐश्वर्य है। इसी के अन्तर्गत दस अवतार आते हैं। चौथा अन्तर्यामी जिस रूप में ईश्वर मनुष्य मात्र के हृदय में रहता है। पाँचवें अर्चावतार अर्थात् ईश्वर का वह रूप जिसमें वह मूर्तियों में निवास करता है।

शंकर जीवात्मा की स्वतंत्र स्थिति को नहीं मानते, अतः उन्होंने जीवात्मा के गुणों पर विचार नहीं किया। रामानुज जीव की स्वतंत्र सत्ता को मानते हैं। उनके अनुसार जीव नित्य, प्रकाशवान, चिदानन्द है। वह अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म का आश्रित है एवं उसीका विकास है। जीव तीन प्रकार के हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्ध जीव भी दो प्रकार के हैं—विषयी और कर्मकांडी और ज्ञानवान तथा ज्ञान बद्ध। जीव का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होना चाहिये। रामानुज ज्ञान पर बल देते हैं। पहले जीव ज्ञान प्राप्त करे, फिर कर्मों के द्वारा पुण्य उपार्जित करे और अन्त में भक्ति या प्रपत्ति का आश्रय ले। भक्ति की व्यवस्था उच्च वर्णों के लिए की गई थी और प्रपत्ति की व्यवस्था सवर्ण और अवर्ण दोनों के लिये थी। रामानुज भक्ति को प्रपत्ति से अधिक महत्त्व देते थे परन्तु यह पता लगता है कि उनके शिष्य भक्ति और प्रपत्ति की तुलना में कौन बड़ा है इस विषय में अनिश्चित मत रखते थे। प्रपत्ति का अर्थ है आत्म-समर्पण। प्रपन्न स्वयं को भगवान की शरणागत-वत्सलता पर छोड़ देता है। भक्त की तरह वह स्वयं भगवान की ओर क्रियाशील नहीं होता। जहाँ भक्त को पूजा और उपासना-सम्बन्धी कर्म-काण्डों का पालन करना पड़ता है, वहाँ प्रपन्न को कुछ भी नहीं करना पड़ता।

मध्वाचार्य के मत में ब्रह्म सगुण और सविशेष है। उनके अनुसार पदार्थ या तत्व दो प्रकार का है—स्वतंत्र और अस्वतंत्र। भगवान स्वतंत्र है, जीव और जड़ जगत अस्वतंत्र है। मध्व के अनुसार जीव भगवान् का दास है और भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करना ही जीव का एक मात्र पुरुषार्थ है। वह ज्ञान को आवश्यक मानते हैं और अनेक नामकरण और भजन को ज्ञान-प्राप्ति का साधन। उनके अनुसार जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। ऐसा विचार करना ही अधोगति को प्राप्त करना है। वे जिस प्रकार जीव की सत्ता को मानते हैं उसी प्रकार जगत की सत्यता भी सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि विकार होने से ही जगत असत्य नहीं हो सकता। जगत ज्ञान का विषय है और मिथ्या ज्ञान का विषय नहीं होता, अतः जगत सत्य है। ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और प्रकृति में मूलतः भेद स्वीकार कर लेने के कारण मध्व-दर्शन में माया को स्थान नहीं मिला। आचार्य के मत में जीव चेतन है परन्तु उसका ज्ञान ससीम है और उसे ईश्वर पर निर्भर रहना पड़ता है जो स्वयं पूर्ण ज्ञानवान चेतन और स्वतंत्र है—यही ब्रह्म और जीव का अन्तर है। जीव दो प्रकार के हैं—दुखी और दुखरहित। दुखी जीव भी दो प्रकार के हैं—मुक्ति के योग्य और मुक्ति के अयोग्य।

मध्वाचार्य का द्वैतवाद

मध्व निर्वाण-प्राप्ति को लक्ष्य नहीं मानते। उनके मत में वैकुण्ठ-प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति का साधन ज्ञान है। जीव और ब्रह्म पृथक हैं और इन दोनों में सेवक-सेव्य का सम्बन्ध है। यह ज्ञान मुक्ति का कारण है। आचार्य भक्ति को भी ज्ञान के समान ही स्थान देते हैं। उनकी भक्ति की परिभाषा है—सम्पूर्ण रूप से भगवान के प्रति आत्म-समर्पण।

निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्क के मत में ब्रह्म सर्वशक्तिमान और मुख्यतः सगुण है। वही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म ही जगत-रूप में परिणित हुआ है और प्रलय होने पर जगत ब्रह्म में लीन हो जाता है।

परन्तु जगत-रूप में परिणित होने पर भी ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण और निर्विकार है। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म अंश ही है। इस प्रकार अंश-अंशी होने के कारण जीव और ब्रह्म में भेद है परन्तु यह भेद इस प्रकार का है कि ये दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। जीव और ब्रह्म की यह भिन्नता इतनी अधिक है कि मुक्तावस्था में भी जीव जीव ही है, वह ब्रह्म नहीं हो जाता। यह भिन्नता होते हुए भी मुक्त जीव अपनेको, ब्रह्म और जगत की अभिन्नता को अनुभव करता है अर्थात् स्वयं अपनेको और जगत् को ब्रह्मरूप देखता है। आचार्य के अनुसार जीव दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त। मुक्ति का साधन भक्ति है, परन्तु इस भक्ति का रूप आसना जैसा है। निम्बार्क ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप उपासना के लिए उपयोगी समझते हैं। इनमें से किसी भी रूप पर विचार किया जा सकता है।

चैतन्यका अचिन्त्य भेदाभेदवाद

चैतन्य-मत पर मध्व, निम्बार्क और वल्लभ का प्रभाव पड़ा मालूम होता है। वल्लभ की पुष्टि-साधना और गौड़ीय वैष्णवों की मधुर भाव की साधना में विशेष अन्तर नहीं है। निम्बार्क की भाँति चैतन्य भी द्वैताद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं।

चैतन्य-मत के अनुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव सेवक और भगवान सेव्य है। भगवान के प्रसाद से ही जीव की मुक्ति होती है। जगत सत्य है और ब्रह्म का परिणाम है। जीव और ब्रह्म चिर-भिन्न हैं, मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है। यहाँ तक चैतन्य और मध्व के मत में साम्य है। परन्तु मध्व के मत में गौड़ीय वैष्णवों के मत में दास्य के अतिरिक्त शान्ति, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव को भी स्थान मिला है।

वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत कहलाता है क्योंकि उसमें रामानुज के

विशिष्टाद्वैत की विशिष्टता हटाकर अद्वैतवाद शुद्ध किया गया है। इनके मत के अनुसार सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अपने इच्छानुसार इन तीनों रूपों का आविर्भाव करता है। जड़ जगत भी ब्रह्म ही है परन्तु अपने चित् और आनन्द-स्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव किये हुए तथा सत् स्वरूप का कुछ अंशतः आविर्भाव किये हुए। चेतन जगत भी ब्रह्म ही है जिसमें सत्-चित्-आनन्द इन तीनों रूपों में से सत् और चित् गुणों का प्रादुर्भाव हुआ है परन्तु आनन्द-तत्व तिरोभूत हो गया है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म से सत्-चित् आत्मा और चित् प्रकृति का जन्म हुआ। वास्तव में तीनों तत्व की यही भिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। यह त्रिगुणात्मक ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार के रूप में प्रगट हुआ।

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत

वल्लभ के अनुसार ऐश्वर्य, वीर्य्य, यशस् श्री, ज्ञान, और वैराग्य ब्रह्म की विशेषताएं हैं, दीनत्व, सर्व दुख-सहन, सर्व हीनत्व, जन्मादि सर्वा पत्तिग्यत्व, देहादिस्वहं बुद्धि और विषयासक्ति। परमात्मा से आत्मा (जीव) का जन्म उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी प्रगट होती है। यह काम ब्रह्म की अपनी ही शक्ति से हुआ, इसमें माया का कोई हाथ नहीं। वल्लभाचार्य के मत में जीव भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं क्योंकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब नहीं है। वह उसका अंश है। आत्मा और परमात्मा (जीव और ब्रह्म) में अन्तर केवल यही है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं। वल्लभाचार्य का मत है कि परमात्मा से आत्मा और प्रकृति के विकसित होने में माया का हाथ नहीं है। परन्तु वह माया को अवश्य मानते हैं, यद्यपि उनकी परिभाषा नई है। माया ब्रह्म की शक्ति है जो उसी की इच्छा से संचालित होती है, अतः मायात्मक जगत मिथ्या

नहीं है। शंकराचार्य के मत में जीवात्मा परमात्मा में भिन्नता माया के कारण दिखाई पड़ती है। वास्तव में वह नानात्व मिथ्या है परन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता सत्य है और इस भिन्नता का कारण भी परमात्मा ही है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य से इनका यह भी भेद है कि वे प्रकृति की सत्ता को भी सत्य स्वीकार कर लेते हैं। मध्व के अनुसार जीव और प्रकृति परमात्मा से भिन्न हैं और एक प्रकार से परतन्त्र हैं। परन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार जीव और प्रकृति वास्तव में परमात्मा की आंशिक अभिव्यक्ति हैं। परमात्मा से वे इसलिए भिन्न हैं कि उनमें उसके सारे गुण प्रगट नहीं होते।

वल्लभाचार्य के अनुसार आत्मायें तीन प्रकार की हैं (१) मुक्ति योगिन (२) नित्य संसारिन (३) तमोयोगिन। नित्य-संसारिन आत्मा की मुक्ति नहीं होती। वह अनन्त काल तक आवागमन के चक्कर में पड़ी रहती है। तमोयोग आत्मायें इनसे भी निकृष्ट हैं। संसार में जीवन-यापन करने के पश्चात् इन्हें अनन्त काल के लिये अंधकार में जाना पड़ता है। मुक्तियोगिन आत्मायें ही ऐसी आत्मायें हैं जो मुक्ति प्राप्त कर पाती हैं। कौन आत्मा किस प्रकार की है यह पहले से ही निश्चित है।

मुक्तियोगिन आत्मायें भी बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकतीं। मुक्ति के साधन के विषय में वल्लभाचार्य ने मौलिक कल्पना की है। आचार्य का मत है कि भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है। यही कृष्ण परब्रह्म हैं परन्तु इनकी भक्ति मनुष्य में किस प्रकार उत्पन्न हो? वास्तव में भक्त को भक्ति के उत्पन्न करने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता; वह भक्ति भगवान की कृपा और अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है। इसी अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रखा है। षोडश ग्रन्थ में निरोध (अनुग्रह द्वारा मुक्ति) का वर्णन करते हुए महाप्रभु लिखते हैं :—

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भावसागरे।
ये निरुद्धास्तयं चात्र मोद मायात्यहर्निशं॥

(जिन्हें भगवान ने छोड़ दिया है वे भवसागर में डूब गये हैं और जो निरुद्ध किये गये हैं वे अहर्निश आनन्द में लीन हैं।) इसी निरोध-मार्ग (पुष्टि-मार्ग) का वर्णन विस्ताररूप से "पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेद" में किया गया है। अणुभाष्य में भी उन्होंने अपने पुष्टि-मत का विवेचन किया है।

कृति साध्यं साधनम् ज्ञान भक्ति रूप शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्याम् मुक्तिर्मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते॥

इससे यह पता चलता है कि महाप्रभु के मतानुसार मुक्ति के दो मार्ग हैं। एक ज्ञान और साधन का जिसे उन्होंने मर्यादा का नाम दिया है और दूसरा भगवान के अनुग्रह (पुष्टि) का जिसे उन्होंने मर्यादा का नाम दिया है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए "कष्टकृच्छ्र" साधनाओं की आवश्यकता है और वे साधन सर्वसुलभ नहीं हैं। इसीलिये जन-साधारण के हित के लिए मर्यादा-मार्ग के साथ पुष्टि-मार्ग की अवतारणा की गई। परन्तु वल्लभाचार्य का यह भी कहना है कि पुष्टि-मार्ग मर्यादा-मार्ग से कहीं ऊँचा है। ज्ञान और योग द्वारा जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है वह भगवत-अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये अधिक साधन की आवश्यकता नहीं। भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करना चाहिये और उसके अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिये। पुष्टि द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है और उसकी लीला में भाग लेने लगती है।

वल्लभाचार्य ने पुष्टि चार प्रकार की बतलाई है--प्रवाह-पुष्टि, मर्यादा-पुष्टि, पुष्ट-पुष्टि, और शुद्ध-पुष्टि। प्रवाह-पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा-पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हृदय खींच लेता है और श्रीकृष्ण के गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्त की साधना करता

है। इस प्रकार प्रभाव-पुष्टि और मर्यादा-पुष्टि पुष्टि की निम्न श्रेणियाँ हैं जिनमें भक्त परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है। पुष्ट-पुष्टि में श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है किन्तु साथ ही भक्त की साधना भी बनी रहती है। इस प्रकार की पुष्टि में भक्त और भगवान दोनों क्रियाशील रहते हैं। वास्तव में सबसे ऊँची श्रेणी की पुष्टि शुद्ध-पुष्टि है जो वल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य थी। भक्त अपने भगवान पर पूर्णतः आश्रित हो जाता है। भगवान भक्त पर अनुग्रह करते हैं। इस अनुग्रह के प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान् की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीला-भूमि बन जाता है। गो, गोप, यमुना, गोपी, कदम्ब और राधा-कृष्ण उसके आराध्य ही नहीं वरन् उसके अत्यन्त निकट की वस्तुयें हो जाते हैं। वह वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांता-सक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और अंत में विरहासक्ति में निवास करता है और इस प्रकार उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

२

धार्मिक पृष्ठभूमि

हिन्दी प्रदेश में हिन्दी के आरम्भ-काल में पूर्वी प्रदेशों में धार्मिक चेतना के विशेष चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। उत्तर-पूर्व में नालन्दा और विक्रमशिला (भागलपुर के पास) में महायान का भ्रष्ट रूप वज्रयान के नाम से चल रहा था। यह बौद्ध सन्यासियों का धर्म था जो राजकीय सहारा न मिलने पर किसी भी आन्दोलन के अन्तिम आश्रय जनता की निचली श्रेणियों को आकृष्ट करने के लिये साधना के क्षेत्र में नीचे उतर रहे थे।

आठवीं नवीं शताब्दि में बौद्ध महायान् सम्प्रदाय लोकाकर्षण के रास्ते बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगा। वह तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान, धारण आदि से लोगों को आकृष्ट करता रहा। सिद्ध-साहित्य के पीछे इसी धार्मिक आन्दोलन का बल है।

नवीं और दसवीं सदी में नैपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध (वज्रयान) साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपन्थी योगियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस धार्मिक आन्दोलन का प्रसार १२ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक है। उसमें एक नये रूप से विकसित योग (हठयोग) की प्रधानता थी। इसी वैयक्तिक साधना ने आगे चलकर संत-धारा का रूप धारण कर लिया। अतः संत-साहित्य का आदि (इन्हीं) सिद्धों को, मध्य नागपंथियों को और पूर्ण विकास कबीर से आरम्भ होनेवाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूक, सुन्दर आदि को मानना चाहिये। डा० बड़थ्वाल ने नागपंथियों और संतों की विस्तारपूर्वक तुलनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि संत-मत में योगधारा की अनेक बातें अपना ली गई हैं जैसे निरंजन और अलख

की कल्पना, सहस्रदल कमल का शून्य, इड़ा, पिंगला, कुंडलिनी, षट्चक्र, ब्रह्म-रन्ध्र आदि। पूर्वी प्रदेश की ये सभी धारायें वैयक्तिक न रह सकीं वरन् समाज के नीचे वर्गों द्वारा अपना ली गईं।

मुसलमानों के आने पर धार्मिक आन्दोलनों की दृष्टि से इस देश में दो वर्ग हो गये। एक वर्ग ऊँची जातियों का था और दूसरा नीची जातियों का। नीची जातियों के वर्ग में एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। आन्दोलन संत-धाराओं के रूप में प्रगट हुआ। सिद्ध और नागपन्थों की विचारावली ने इस धारा को विशिष्ट रूप दिया। इस पर मुसलमानों का भी प्रभाव पड़ा। इसकी साधना का रूप भी इस्लामी साधना से मिलता-जुलता था। मुसलमानी साधना के दो रूप थे। एक वर्ग सूफ़ियों का था और दूसरा ऐकेश्वरवादी पीरों का। इन दोनों वर्गों ने योगियों और संतों पर प्रभाव डाला और स्वयं उनसे प्रभावित हुये। इन्हीं प्रभावों के कारण संतों ने हिन्दू-मुसलिम एकता पर बल दिया और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। उच्च वर्ण के हिन्दुओं में वैष्णव भक्ति का आन्दोलन चला। मध्य युग के वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक रूप स्मार्त धर्म में मिलता है जिसका पुनरुद्धार शंकराचार्य ने किया था। "श्री शंकराचार्य ने अद्वैत मत और ज्ञान-मार्ग के पोषक होते हुए भी उसके आदर्श की दुरूहता के कारण कुछ देवताओं की उपासना साधनरूप से मान ली थी--विशेषत पंचदेव अर्थात् शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश और शक्ति की। 'स्मार्त' धर्म का मूल सिद्धान्त इस प्रकार से है--ब्रह्म या परब्रह्म एक मात्र सत्ता है, वही इस जगत का कारण और विधान है और वह शिव, विष्णु और ब्रह्मा किसी भी देवता से भिन्न है। उस ब्रह्म का ज्ञान ही अधिक श्रेयस्कर है। उसके यथार्थ ज्ञान से मुक्ति और अद्वैतता प्राप्त होती है। किन्तु इसलिए कि मनुष्य का मस्तिष्क अनिर्वचनीय मूल कारण के अनुभव के लिए असमर्थ है, उसका अनुभव देवताओं के ध्यान द्वारा किया जा सकता है। यह धर्म हिन्दुओं के सभी देवताओं का आदर करता

हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह साहित्य अभारतीय और अनार्य है वह परमात्मा को मातारूप में देखता है। कदाचित् शक्ति-पूजा का प्रारम्भ इसी तन्त्र-साहित्य से हुआ। उसने विधि-विधानमयी उपासना-पद्धति और मंत्रों की सृष्टि की। धीरे-धीरे ये पद्धतियाँ और मंत्र-शैली शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय में भी ग्रहण हुईं। वैष्णव में पंचरात्र-आगम का विशेषकर नारद पंचरात्र का बड़ा महत्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय भक्ति-मार्ग पर निगम और आगम साहित्य का महत्वपूर्ण प्रभाव है। निगम साहित्य ने भक्ति-मार्ग को भक्ति-भावना दी तो आगम साहित्य ने उसकी उपासना-पद्धति और मंत्र-विधान को निश्चित किया। भक्ति मार्ग पर तीसरा प्रभाव पुराण-साहित्य का है। इसमें देवताओं के गुणों, उनकी क्रियायों के अनुसार उनके आकार, आयुध, वाहनादि की कल्पना की गई और इस प्रकार नामरूप लीला और धाम से पुष्ट देवताओं की भक्ति का प्रचार हुआ। भक्ति-मार्ग अनेक देवी-देवताओं को उपास्य मानकर चला। इनमें नारायण शिव या रुद्र शक्ति-प्रधान थे। वैष्णव भक्ति का सम्बन्ध नारायण को प्रधान मानकर चलनेवाले भक्ति-मार्ग से है।

वैष्णव मत में विष्णु और उसके अवतार महत्वपूर्ण है। विष्णु का निर्देश ऋगवेद में ही मिलता है। वहाँ हम यह देखते हैं कि उनका प्रयोग सूर्य के साम्यवाची अर्थ में किया गया है। कहीं-कहीं उन्हें अग्नि भी माना है। उनमें इन्द्र का आरोप भी किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों तक आते-आते विष्णु का महत्व सूर्य, अग्नि और इन्द्र सभीसे बढ़ गया है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के वामन-रूप का निर्देश है। वे यज्ञरूप होकर असुर से सारी पृथ्वी ले लेते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु उच्चतम देवता माने गये हैं, अग्नि निम्नतम देवता हैं। अन्य देवता दोनों के मध्य में हैं। मनुस्मृति और वाल्मीकि रामायण के समय तक विष्णु को निश्चित रूप से सर्वोच्च स्थान नहीं मिल पाया था। उस समय रामायण और ब्रह्म का स्थान अधिक ऊँचा था। ऋगवेद के

पुरुषसूक्त के ऋषि का नाम नारायण कहा गया है। परमात्मा का नारायण नाम पहले-पहले शतपथ ब्राह्मण में देखा जाता है और तैत्तिरीय आरण्यक में तो यह विष्णु के साथ सम्बद्ध मिलता है। जान पड़ता है कि ब्राह्मण-काल तक पहुँचते-पहुँचते नारायण परम देवता के रूप में माने जाने लगे हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु तथा नारायण का स्थान लगभग एक-सा दिखाई पड़ता है। महाभारत और पुराणों में दोनों को अभिन्न समझा गया है। "विष्णु सतोगुणी, दयालु, पोषक, रक्षक और व्यापक हैं। इसीलिये उनका सम्बन्ध जल से है, जो सृष्टि के पूर्व सर्वव्यापक था। इस कारण वे नारायण हैं, जल के निवासी हैं। वे शेषशायी होकर जल पर शयन कर रहे हैं।" महाभारत में विष्णु स्रष्टा भी माने गये हैं और इस नाते उनका एक नाम प्रजापति भी है। वे ब्रह्म भी हैं। इस रूप में उनकी तीन स्थितियाँ हैं : (१) ब्रह्मा जो उनकी नाभि-कमल से उत्पन्न हुआ है और जिसमें सृष्टि करने की शक्ति है, (२) विष्णु जिस रूप में वह अवतार ग्रहण कर के संसार की रक्षा करते हैं, (३) रुद्र जो विष्णु के मस्तक से उत्पन्न हुए हैं और जो सृष्टि का विनाश करते हैं। रामायण के दूसरे संस्करण में विष्णु का रूप स्थिर हो चुका है और वह ब्रह्म के स्थान पर प्रतिष्ठित दिखलाई देते हैं। धीरे-धीरे विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण और अन्त में भागवत पुराण द्वारा विष्णु सर्व-शक्तिमान लिये गये और उनके अवतारों की संख्या निर्धारित कर दी गई। पुराणों का अध्ययन करने से पता चलता है कि अवतारों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ी है और अन्त में बौद्ध धर्म की उन्नति के समय २४ बुद्धों के स्थान पर २४ अवतारों की कल्पना निश्चित हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पहले वैष्णव धर्म का वह रूप प्रतिष्ठित था जिसे एकान्तिक कहा गया है। इस धर्म में नारायण या वासुदेव की पूजा होती थी और वह विष्णु अथवा नारायण माने जाते थे। इस धर्म की विशेषता यह थी कि

इसमें सारी भक्ति-भावना और उपासना एक ही देवता के ऊपर न्यौछावर की जाती थी। अन्य देवता किसी भी प्रकार मान्य नहीं थे। इस एकान्तिक या वासुदेव-धर्म का आधार भगवत गीता थी जिसमें वासुदेव कृष्ण के उपदेश लिपिवद्ध थे। जातक कथाओं में एक कथा यह भी है कि बुद्धदेव पूर्व-जन्म में वासुदेव थे। इससे यह सिद्ध होता है कि जातक-रचना के समय वासुदेव की बड़ी महिमा थी और बुद्ध की महत्ता स्थापित करने के लिए इस प्रकार की कल्पना की गई। पाणिनि के एक सूत्र से पता लगता है कि वासुदेव उनके समय में देवता समझे जाते थे। पाँचवीं शताब्दी के लगभग महाभारत का पहला संग्रह हुआ। इस समय वासुदेव, नारायण और विष्णु को एक ही देवता समझा जाने लगा था। उसमें वासुदेव कृष्ण के पहली वार दर्शन होते हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से धार्मिक सुधार की तीन धारायें मध्यप्रदेश में वहने लगीं। इनमें वासुदेव-सुधार की धारा सर्व प्राचीन थी। जैन और वौद्ध सुधारों का जन्म इसी समय हुआ था। वासुदेव-धर्म के सम्बन्ध में अधिक पता नहीं लग सका। परन्तु यह निश्चित है कि वह ईश्वरवादी था और भक्ति को उसमें स्थान मिला करता है। जान पड़ता है कि वौद्ध धर्म के राज-धर्म होने के पश्चात् वासुदेव-धर्म का क्षेत्र संकुचित हो गया। वहुत काल तक वह पश्चिमीय और पश्चिम-दक्षिण मध्य प्रदेश को ही प्रभावित करता रहा। वौद्ध सुधार का प्रारम्भ पूर्वीय प्रदेश से हुआ था। लेकिन राजसत्ता का आश्रय मिलने से शीघ्र ही उसका रूप अखिल भारतीय हो गया।

वौद्ध सुधार का प्रभाव वासुदेव-मत पर भी पड़ा। उसमें भी भक्ति और अहिंसा की प्रधानता हुई। वास्तव में इस समय सारे हिन्दी प्रदेश में यज्ञ, वलि और कर्मकाण्ड का विरोध हो रहा था और वौद्ध, जैन और वासुदेव-सुधार इसी विरोध भावना को हमारे सामने रखते हैं। इसी समय के वासुदेव का विकसित रूप पंचरात्र या भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सात्वत नाम की एक क्षत्री जाति ने जो मथुरा के

आस-पास रहती थी इसे विशेष रूप से अपनाया। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व मेगस्थनीज ने मथुरा, कृष्णपुर, यमुना, शौरसेन और हरकुलीज का उल्लेख किया है। इस समय तक महाभारत का नारायणीय धर्म लिखा जा चुका था और चतुर्व्यूह की चर्चा भी चल पड़ी थी। धीरे-धीरे इस धर्म का प्रचार हुआ और कई वैष्णव सम्प्रदाय बन गये। पद्म पुराण में वैष्णव धर्म के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है। इसके बाद हमें घसुण्डी का शिलालेख मिलता है जो ईसा से २०० ई० पूर्व का माना जाता है। इसी समय के बेसनगर के शिलालेख में स्पष्ट लिखा है :—"देव देवस वासुदेवस गरुड़ध्वजो अयं कारितो .... हेलिओडोरेण भागवतेन दियस पुत्रेण तक्षशिलाकेन"। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी शताब्दी पूर्व ई० तक वासुदेव और उनके व्यूहों विशेषकर संकर्षण की पूजा हो चली थी और इनके माननेवाले भागवत कहलाते थे। पहली शताब्दी के नानाघाटवाले लेख में वासुदेव-संकर्षण का प्रयोग द्वन्द्व समास के रूप में हुआ है। इससे यह समझा जा सकता है कि वासुदेव और संकर्षण एक माने जाने लगे थे। महाभारत के नारायणीय विभाग के अन्तर्गत लिखा है कि जब नारद ने श्वेत द्वीप की यात्रा की तो वासुदेव ने अपने धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया—वासुदेव ही परमात्मा हैं वही अन्तर्यामिन् हैं, वही सृजनकर्त्ता हैं। संकर्षण वासुदेव का ही रूप है। संकर्षण से बुद्धि या मनस् की उत्पत्ति होती है, प्रद्युम्न से अनुरुद्ध या चेतन की। जो मेरी भक्ति करते हैं वह मुझे प्राप्त करते हैं और मुक्ति पाते हैं। वासुदेव ने वाराह, नृसिंह और दाशरथी राम को अवतार कहा है। भण्डारकर का कथन है कि सात्वत् आभीरी जाति का नाम था और वासुदेव संकर्षण और अनुरुद्ध इसी जाति के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। जो हो, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के साथ साथ हिन्दी प्रदेश के पश्चिम में मथुरा के आस-पास वैष्णव धर्म के वासुदेव-रूप ने जन्म ले लिया था। बौद्ध धर्म और जैन धर्म अनीश्वरवादी और नास्तिक थे। इनके विप-

रीत वासुदेव धर्म ईश्वरवादी और आस्तिक था। अहिंसा का मह तीनों धर्मों में समान रूप से था। वासुदेव-धर्म अन्य धर्मों से अधि पुराण-प्रिय था और उसकी नींव उपनिषदों और वेदों के धर्म त चली गई थी। मौर्य राजाओं के समय में यह धर्म अत्यन्त उत्क में था परन्तु धीरे-धीरे वह राजाश्रय न मिलने के कारण संकुचि हो गया।

ईसा शताब्दी के थोड़े ही समय बाद इस वैष्णव या वासुदेव ध में गोपाल और बाल-कृष्ण की भावना का उदय हुआ। भण्डारक इसका मूल कारण आभीर नाम की एक गोपालक जाति को मानते जो कहीं दक्षिण से आई थी। यह कदाचित् सौराष्ट्र-निवासी थ और इनके यहाँ बालक कृष्ण के अद्भुत चरित्र और ग्वाल कन्याओं से प्रेम की कथायें बहुत समय से चली आ रही थीं। महाभारत वासुदेव कृष्ण का जो रूप प्रतिष्ठित था उसपर इन जन-मान्यताओं क प्रभाव पड़ा और कृष्ण के उस रूप का निर्माण हुआ जिसका प्रकाश श्रीमद्भागवत् में हुआ है। इस नये रूप में भागवत् धर्म का पुनरु त्थान का कारण उसका राज्याश्रय प्राप्त करना था। पाटलीपुत्र के गुप्त राजाओं ने इस समय इस धर्म को अपना लिया था। उनके सिक्कों और शिलालेखों पर उनके नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण मिलता है परन्तु गुप्त वंश के साथ-साथ राजाश्रय का लोप हो गया और बौद्ध धर्म ने एकबार फिर सारे पश्चिमी प्रदेश पर आधिपत्य प्राप्त क लिया। बहुत से विद्वानों का कहना है कि उस समय भागवत धर्म दक्षिण में चला गया। वहाँ उसका विशेष विकास हुआ।

परन्तु दक्षिण में भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा कदाचित् ऋगवेद के समय के आस-पास ही हो चुकी थी। यह सम्भव है कि उत्तर के भागवत के पुनरुत्थान ने पहली शताब्दी के लगभग उसे प्रभावित किया हो। जो हो, पाँचवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति प्रधान वैष्णव मत विकसित हो रहा था। दक्षिण में अलवारों ने इसके विकास में विशेष

सहयोग दिया। अलवार भक्त कवि थे। इनके गीत दक्षिण के मन्दिरों में गाये जाते थे। पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक इन गीतों का एक बड़ा साहित्य एकत्रित हो गया। दसवीं शताब्दी के अन्त में इन अलवारों के एक सम्प्रदाय 'नामालवार' के गीतों का संकलन नाथ मुनि ने किया। इसका नाम 'नालायिर प्रबन्धम्' है। इसकी कविताओं में कहीं भगवान के विरह से व्याकुल भक्त-हृदय की वेदना है, कहीं दार्शनिक विचार हैं, कहीं ऐसे प्रेम-गीत जो सूफ़ियों के प्रेम-गीतों से मिलते-जुलते हैं। 'प्रबन्धम्' में बारह कवियों के गीत संग्रहीत हैं।

इन गीतों के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि कृष्ण दक्षिण के भक्तों की ही कल्पना हैं। यह अवश्य है कि कृष्ण की रूप-कल्पना में दक्षिण के भक्तों का प्रधान हाथ रहा है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कृष्ण का आविर्भाव दक्षिण में हुआ। यह अवश्य सिद्ध हो सकता है कि अलवारों के इन गीतों ने वैष्णव (भागवत) धर्म के पुनरुत्थान के समय उसपर विशेष प्रभाव डाला। बारहवीं शताब्दी के लगभग श्रीमद्भागवत का निर्माण हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि भागवत की रचना दक्षिण में हुई अथवा उत्तर में। परन्तु भागवत के कृष्ण का बहुत कुछ रूप द्रविड़ है और इस ग्रन्थ में एक आख्यायिका ऐसी मिल जाती है जिससे यह सिद्ध होता है कि भागवत्-कार भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में, उसका लालन-पालन महाराष्ट्र देश में और उसकी युवावस्था का समय गुजरात में व्यतीत होना ठीक समझते हैं। इस कथा में नारदजी ने मथुरा के पास एक स्त्री को जिसके दो बच्चे थे रोते देखा था। उसने अपना नाम भक्ति बताया। उसके साथ के बच्चे मृतप्राय थे। इन्हें उसने ज्ञान और वैराग्य बताया। इस कथा-प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि बारहवीं शताब्दी के पहले क्रमशः द्रविड़ प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात में भक्ति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उसने ज्ञान और वैराग्य को पदच्युत् कर के यह स्थान प्राप्त किया था।

ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक ऐसे अनेक

धर्म-ग्रन्थ और पुराण बने जिन्होंने विष्णु के अवतारों का वर्णन किया। इन ग्रन्थों ने चौदहवीं शताब्दी के अन्त में प्रगट होनेवाले भागवत-धर्म के दूसरे पुनरुत्थान में विशेष भाग लिया। ये ग्रन्थ नारायणीय, नारद पंचरात्र, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, वाराह पुराण, अग्नि पुराण, नृसिंह पुराण और भागवत् पुराण हैं।

नारायणीय में एक कथा है कि नारद ने बदरिकाश्रम की यात्रा की। वहाँ उन्हें नारायण के दर्शन हुये। वास्तव में वह दोनों एक देवता हैं। नारायण की प्रकृति का ही नाम नर है। इसमें नारायण के चार व्यूहों का उल्लेख है—(१) वासुदेव (२) संकर्षण (३) प्रद्युम्न और (४) अनुरुद्ध। इनसे ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। उनसे सारे जड़—चेतन संसार की। वस्तुतः नारायण के ये चार व्यूह दार्शनिक क्षेत्र के आदि ब्रह्म, प्रकृति, मनस् और अहंकार के प्रतीक मात्र हैं। नारायणीय में कंस-वध के निमित्त वासुदेव कृष्ण के अवतार का निर्देश है पर उनकी गोकुल-लीला का उल्लेख नहीं मिलता। नारायणीय में नारायण के ६ अवतारों का उल्लेख है--वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और वासुदेव कृष्ण। वायु पुराण, अग्नि पुराण और वाराह पुराण में अवतारों की संख्या दस हो गई है यद्यपि इन अवतारों में मतभेद है। वायु पुराण में शेष चार अवतार दत्तात्रेय, अनामी, वेदव्यास और कल्कि हैं। अग्नि पुराण और वाराह पुराण में वह शेष चार अवतार मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि हैं। नृसिंह पुराण में विष्णु के इन दस अवतारों का निर्देश है। हरिवंश पुराण के ६ अवतारों के अतिरिक्त सनत्कुमार, नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ और धन्वन्तरि मुख्य हैं।

इन सब पुराणों में अनेक अवतार की कथा का होना एवं उनकी संख्या का क्रमशः बढ़ते जाना हमारे लिए एक महत्वपूर्ण अर्थ रखता है। इससे पता चलता है कि पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक भागवत् धर्म समाज में अनेक देवताओं की सत्ता को स्वीकार कर के उन्हें विष्णु का अवतार मानकर उन धर्मों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में पुष्ट

करता रहा। यद्यपि उसने इस प्रक्रिया में अनेक देवताओं को उपासना-पद्धति में स्थान दिया, तथापि उसने मुख्य रूप से केवल दो अवतारों की प्रतिष्ठा की। फलतः वैष्णव धर्म के द्वितीय पुनरुत्थान के समय केवल दो व्यक्ति प्रधान रूप से धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित थे और तत्कालीन आचार्यों और भक्तों ने इन्हीं को लेकर दर्शन, धर्म और काव्य की रचना की।

वैष्णव धर्म के द्वितीय पुनरुत्थान का सबसे प्रधान कारण यह था कि उस समय बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था और धार्मिक क्षेत्र एक प्रकार से रिक्त हो गया था। सम्राट हर्षवर्धन बौद्धों का अंतिम आश्रय था। उसके साथ ही भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का लोप हो गया। बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारतीय धार्मिक क्षेत्र में धर्म की तीन धारायें चलीं। पूर्व में महायान ने तंत्र-मार्ग और शक्ति-पूजा को जन्म दिया। पश्चिम में राजपूत राजाओं के आश्रय में शैव धर्म का विकास हुआ। समस्त दक्षिणात्य में विष्णु-पूजा प्रचलित हो गई। कुछ ही समय बाद वैष्णव मत उत्तर भारत में भी आ गया। उसने शिव को विष्णु की ही शक्ति माना। सारे पश्चिमीय प्रदेश और दक्षिण भारत में विष्णु के तीन रूपों ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की भक्तिपूर्ण उपासना प्रचलित हो गई।

आठवीं शताब्दी तक कुमारिल भट्ट के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म के अवशेष चिह्न भी लुप्त हो गये। कुमारिल भट्ट के पश्चात् आचार्यों का युग प्रारम्भ होता है। इन आचार्यों ने वेद, उपनिषद् और पुराणों की एक बार फिर प्रतिष्ठा की। ये सब आचार्य दक्षिण से आये थे और वहाँ अलवार भक्तों एवं उनके साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित कर ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा की। किन्तु उन्होंने नारायण और शिव के प्रति अनेक भक्तिपूर्ण छंदों की भी रचना की है। उनसे स्पष्ट है कि उनपर भी भक्ति का प्रभाव था। उस युग में अनेक मत-मतान्तर धार्मिक क्षेत्र में विजय

प्राप्त करने के लिये युद्ध कर रहे थे, इसलिये उस समय ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा की व्यावहारिक आवश्यकता थी जिसे शंकराचार्य ने भली भाँति समझ लिया था।

वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान में महायान-शाखा में प्रचलित बहुत-सी बातों का समावेश हो गया। इसमें दो मुख्य बातें विकलतापूर्ण भक्ति और मूर्ति के अवतारों की कल्पना थीं। महायान में २४ अतीत बुद्धों, २४ वर्तमान बुद्धों, २४ भावी बुद्धों की कल्पना थी और उनकी मूर्तियाँ भी पूजी जाने लगी थीं। हिन्दुओं की २४ अवतारों की कल्पना २४ बुद्धों से ही ली गई है। बुद्ध भी विष्णु के अवतार मान लिये गये। इस प्रकार वैष्णव धर्म द्वारा बौद्ध धर्म और हिन्दु धर्म में सामान्यतायें उत्पन्न हो जाने के कारण हिन्दू धर्म का प्रचार बढ़ा। कुमारिल ने कर्मकांड की स्थापना की और शंकर ने वेद की आस्था को पुनर्जीवित किया। बौद्धों ने जाति-बन्धन को बहुत कुछ विच्छिन्न कर दिया था परन्तु ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ वर्ण-व्यवस्था और जाति-विचार बढ़े। विदेशियों-द्वारा पराजय की प्रतिक्रिया ने इसे उत्तेजना दी। मध्य युग में उच्च वर्णों में केवल इतनी उदार भावना थी कि भक्ति का अधिकार शूद्रों को भी दे दिया गया था।

रामानुज ने जन-समाज की सारी धार्मिक मान्यताओं को ग्रहण कर वैष्णव धर्म का रूप व्यापक कर दिया। वास्तव में रामानुज को ही वैष्णव धर्म के मध्यकालीन भक्ति-मार्ग का प्रवर्तक समझना चाहिये। रामानुज का सम्बन्ध गीतों के संकलनकर्ता नाथ मुनि से जोड़ा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वे अलवारों की भक्ति से ही प्रभावित हुए। नाथ मुनि के पौत्र श्री यामुनाचार्य थे जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। नाथ मुनि श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य थे। यमुनाचार्य के बाद रामानुजाचार्य इसी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हुये। उन्होंने दक्षिण के तामिल संतों के ज्ञान और भावों का वेद उप-निषद और गीता के प्राचीन ग्रन्थों से सामंजस्य स्थापित किया और

अपने नये मत की नींव डाली। इस मत में भक्ति की प्रधानता नहीं थी। किन्तु उसे एक विशेष स्थान अवश्य प्राप्त था।

रामानुजाचार्य का जन्म सं० १०७४ (सन् १०१७ ई०) में हुआ था। उनकी मृत्यु सं० ११९७ (सन् ११४० ई०) में हुई। उनके समय में धार्मिक क्षेत्र में उच्छृंखलता फैली हुई थी। दार्शनिकों में शंकर के मायावाद का प्रचार था। जनसाधारण में अनेक मत-मतान्तर फैले हुये थे। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना होती थी। मायावाद की आड़ में नाथ-सम्प्रदाय अपने योग-मार्ग का प्रचार कर रहा था। पूर्व में एक वाममार्गी स्त्री-उपासक सहज मत का जन्म हो गया था। त्रिपुर सुंदरी की पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय में रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म का एक नये प्रकार से संगठन किया। उन्होंने उन सब धर्म-सम्प्रदायों को एक कर लिया जो शास्त्र-विहित थे और उनका वैष्णव धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया। शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करने में उन्हें अपनी शक्ति विशेष रूप से लगानी पड़ी। शंकराचार्य ने बौद्ध शून्यवाद के खंडन में ज्ञान का आश्रय लिया था, अतः उनका भक्ति-धर्म आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु रामानुज का नया मत जन-साधारण के लिए था, इसलिये उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में भक्ति को भी स्थान देने की आवश्यकता समझी। वह मुक्ति के लिए ज्ञान को उपादेय मानते थे। परन्तु सभी मनुष्यों का ज्ञानी होना असम्भव है। जो ज्ञानी नहीं थे उनके लिये उन्होंने भक्ति की योजना की। वैष्णव धर्म में द्विजातियों को विशेषाधिकार प्राप्त था। उन्हें भक्ति का आदेश मिला। शूद्रों के लिए रामानुजाचार्य ने एक नई कल्पना की। उन्होंने उनके लिए प्रपत्ति का उपदेश दिया। प्रपत्ति का अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर अपना विस्मरण कर देना। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुजाचार्य ने उत्तरी भारत के धर्म-क्षेत्र में भक्ति का बीज बोया परन्तु इस बीज ने वृक्ष का रूप ग्रहण करने में कई शताब्दियों का समय लिया।

रामानुजाचार्य के कुछ ही पश्चात् (बारहवीं शताब्दी में) आंध्र देश में निम्बार्क उत्पन्न हुये। उन्होंने भक्ति और प्रपत्ति को एक माना। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र को विस्तृत किया। रामानुजाचार्य ने नारायण तथा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व दिया था परन्तु निम्बार्क ने राधा और कृष्ण को उपास्य माना। उनके कुछ ही समय बाद उनके मतानुयायियों की संख्या ब्रज और बंगाल प्रदेश में यथेष्ट हो गई होगी। राधा और कृष्ण की अवतारणा भक्ति की एक बड़ी घटना है। उसने पहली बार मधुर भाव की उपासना को जन्म दिया यद्यपि इससे मिलती-जुलती एक उपासना-पद्धति सूफियों द्वारा इसी क्षेत्र में अंकुरित हो रही थी। बंगाल में शक्ति-उपासना के कारण इस प्रकार की मधुर भाव की भक्ति के लिये पृष्ठभूमि पहले से बन चुकी थी। ब्रज-भूमि तो कृष्ण की लीला-भूमि ही समझी जाती थी।

रामानुजाचार्य के लगभग दो सौ वर्ष के बाद (सं० १२९४ या सन् १२३७ ई०) मध्वाचार्य का जन्म हुआ। उन्होंने वैराग्य तथा नवधा भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने विष्णु को परमात्मा माना और उनके राम तथा कृष्ण अवतारों को उपास्य ठहराया। उन्होंने कृष्ण पर अधिक बल दिया, तदनन्तर विष्णु स्वामी ने महाराष्ट्र में विष्णु की भक्ति विशेष रूप से प्रतिष्ठित की।

इस प्रकार १४वीं शताब्दी तक भारतीय धर्म-क्षेत्र में चार धार्मिक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो गये थे :—

१—श्री सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक रामानुज थे और जिसे रामानन्द ने विशेष लोकप्रिय बनाया।

२—ब्रह्म सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक मध्व थे।

३—ब्रह्म सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे।

४—सनकादि सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक निम्बार्क थे।

हम कह आये हैं कि यह वैष्णव धार्मिकता की लहर दक्षिण भारत से चलकर उत्तर भारत में आई जहाँ विशेष परिस्थितियों के कारण

उसका विशेष विकास हुआ। श्री सम्प्रदाय को १४वीं शताब्दी में रामानन्द ने विशेष व्यापक और लोकप्रिय बनाया; इन्होंने भाषा को प्रचार का माध्यम बनाया और उसमें थोड़ी-बहुत रचना भी की। आदि ग्रन्थ में उनका एक गीत मिलता है जो संत-साहित्य का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। उनके एक दूसरे पद की खोज डा० ग्रियर्सन ने की है। यह पद हनुमानस्तुति के रूप में है। रामानुज ने विष्णु के नारायण-रूप को मान्य समझा था। रामानन्द ने विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर विष्णु के रामावतार की भक्ति और उपासना को महत्व दिया। उनकी राम-भक्ति हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भागों में प्रचलित हुई। १६वीं शताब्दी में कबीर और १७वीं शताब्दी में तुलसी ने इसका प्रचार किया। कबीर ने दाशरथि राम को स्वीकार न कर के प्राचीन निर्गुण (संत) परम्परा का सहारा लेकर अन्तर्यामिन् राम की सृष्टि की। साकारोपासक तुलसी ने दाशरथि राम को ही निर्गुण-सगुण रूप ब्रह्म माना परन्तु भक्ति के लिये उन्होंने निर्गुण रूप के स्थान पर सगुण धनुर्धारी, असुरनाशक, भक्तवत्सल रूप की प्रतिष्ठा की।

१६वीं शताब्दी में ये सब धारायें अत्यन्त प्रबल थीं। विशेषकर विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क की कृष्ण-भक्ति और रामानन्द की राम-भक्ति। १६वीं शताब्दी में बंगाल में चैतन्य का आविर्भाव हुआ। यह पहले मध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय में दीक्षित हुए परन्तु बाद में इन्होंने निम्बार्क के द्वैताद्वैत सिद्धान्त को मान लिया। इन्होंने राधाकृष्ण भक्ति में माधुर्य और आवेग की प्रतिष्ठा की और पाँच प्रकार की भक्ति बतलाई--शान्ति (ब्रह्म पर मनन), दास्य (सेवा), सख्य (मैत्री) वात्सल्य (स्नेह), माधुर्य (दाम्पत्य)। उधर हिन्दी प्रदेश के पश्चिम में वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया और गोकुल को अपना केन्द्र बनाया।

रामानन्द के समय में उत्तर भारत में भक्ति की एक लहर दौड़ गई थी। इसके कई कारण थे। रामानन्द ने भक्ति के रूप को सामान्य

तथा जन-साधारण के लिये अधिक सुलभ बना दिया था। शूद्रों और स्त्रियों को भी भक्ति का अधिकार मिल गया था और भाषा के प्रयोग के कारण दर्शन और धर्म के ऊँचे सिद्धान्त सर्वसाधारण तक छनकर पहुँचने लगे थे।

यद्यपि मध्वाचार्य ने राधा के साथ कृष्ण की कल्पना कर के भक्तों को मधुर भाव की भक्ति का थोड़ा-बहुत आभास दे दिया था परन्तु उसका पूर्ण विकास आगे के युग में हुआ। हम अनुमान कर सकते हैं कि जिन केन्द्रों में राधा-कृष्ण की भक्ति चलती रही होगी वहाँ शीघ्र ही इस भक्ति ने शृङ्गार-भाव को जन्म दिया होगा। इस भाव के विकास में भागवत ने विशेष सहायता की होगी। यह भी सम्भव है कि परवर्ती संस्कृत और प्राकृत साहित्य की शृङ्गार-भावना ने भक्तों की भक्ति को मधुर रस का पुट दे दिया हो। जो हो, पन्द्रहवीं शताब्दी तक शृंगाल-भाव अथवा मधुर रस की उपासना इतनी अधिक प्रचलित हो गई थी कि वल्लभाचार्य को इसके लिए शास्त्रीय व्यवस्था देनी पड़ी। थोड़े ही समय में सारा उत्तरी भारत मधुर रस की कृष्ण-भक्ति से पल्लवित हो गया। इसका एक केन्द्र बंगाल में था और दूसरा व्रज, राजस्थान एवं गुजरात में। इस समय पण्ढारपुर में विष्णु (विट्ठल नाथ) की भक्ति और अयोध्या में राम-भक्ति का केन्द्र था। कृष्ण-भक्ति के मधुर भाव की प्रतिष्ठा होने के बाद पंढारपुर का केन्द्र उसीके रंग में रँग गया। अयोध्या के केन्द्र पर भी विशेष प्रभाव पड़ा। तुलसीदास की कविता में यह प्रभाव स्पष्ट है। बंगाल में कृष्ण-भक्ति को दृढ़ करने वाले महाप्रभु चैतन्य थे। उनका जन्म सम्वत् १५४२ (१४८५ ई०) में हुआ। वे माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे। यही माधवेन्द्रपुरी वल्लभाचार्य के भी गुरु थे परन्तु कुछ समय पश्चात् उनके शिष्य हो गये। चैतन्य ने राधा-भाव से कृष्ण की उपासना की। उन्होंने राधा-कृष्ण के अनन्य प्रेम से सारे बंगाल को ओतप्रोत कर दिया। उनका जीवन विरह-तन्मयासक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

वल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ (सन् १४७८ ई०) में हुआ। ये चैतन्य से सात-आठ वर्ष बड़े थे। वे उनके गुरु-भाई भी थे। दोनों ने अपने समय के प्रचलित भक्ति-मार्ग को ही पुष्ट किया। अतः चैतन्य और वल्लभ के मतों में बहुत एका है। दोनों में मधुर भाव की भक्ति का विशेष स्थान है। दोनों में राधा-कृष्ण की भक्ति को एक ही महत्त्व दिया है। अन्तर केवल इतना है कि चैतन्य-सम्प्रदाय में भावुकता को अधिक स्थान मिला है। कृष्ण की रासलीला के अनुकरण में चैतन्य-सम्प्रदाय में गान, वाद्य, नृत्य और कीर्तन को विशेष स्थान मिला। सम्भव है कि उसपर सूफ़ी मत का प्रभाव पड़ा हो। वल्लभ-सम्प्रदाय की भक्ति संयत है। उसमें पूजा-विधि का महत्वपूर्ण स्थान है। वार्ता से पता चलता है कि वल्लभाचार्य ने कीर्तन का प्रबंध श्रीनाथजी की स्थापना के कई वर्ष बाद किया। सम्भव है इसका कारण चैतन्य सम्प्रदाय का कारण हो क्योंकि चैतन्य ने स्वयं ब्रज की यात्रा की थी तथा जीव गोस्वामी आदि उनके अनुयायी ब्रज में बहुत दिन तक रहे थे। श्री-नाथजी के मन्दिर का प्रबन्ध भी लगभग बीस वर्ष तक बंगालियों के हाथ में रहा इस प्रकार चैतन्य-सम्प्रदाय की भावुकता और रसिकता वल्लभ-सम्प्रदाय को बहुत समय तक प्रभावित करती रही।

वैष्णव धर्म के द्वितीय पुनरुत्थान में वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग का विशेष हाथ है। सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय वल्लभ के सिद्धान्तों और पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डाला गया है, अतः यहाँ सामान्य रूप से उसकी चर्चा की जायगी।

सं० १५४८ (सन् १४९२ ई०) में वल्लभाचार्य ब्रज में आये और श्री गोवर्धनजी पर श्रीनाथजी की मूर्ति की स्थापना की। श्रीनाथ जी की पूजा का उत्तरदायित्व अपने कुछ शिष्यों पर सौंप कर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने तीन बार भारत-भ्रमण किया। उनकी यात्राओं ने उनके मत-प्रचार के लिये मार्ग प्रशस्त किया। सहस्रों लोग कृष्ण-भक्त हो गये। दूसरी यात्रा के समय

उन्होंने काशी में अपना विवाह किया। तीसरी यात्रा समाप्त करने के बाद वे प्रयाग के समीप अड़ैल नामक ग्राम में घर बनाकर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने लगे। वहीं उनके दो पुत्र हुए। अंत समय में वे सन्यासी हो गये। देहावसान काशी में हुआ। वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म को दो विशेष प्रकार की भक्ति-पद्धतियाँ दीं। एक तो राधा-कृष्ण के मधुर भाव की उपासना जो चैतन्य-सम्प्रदाय में भी प्रधान रूप प्राप्त कर चुकी है। दूसरे प्रकार की भक्ति वल्लभाचार्य की मौलिक कल्पना है। यह अवश्य है कि भागवत में श्री कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन है और पंचरात्र में वात्सल्य भक्ति को स्थापना करने का श्रेय सम्पूर्ण रूप से वल्लभाचार्य को है। भक्ति के इन दो प्रकारों ने वैष्णव धर्म का रूप ही बदल दिया। वह सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त सहज हो गया। उसमें वात्सल्यहृदय प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों और प्रेम-संस्कारपूर्ण युवती-युवतियों—सभी के लिये स्थान था। यही कारण था कि लगभग चार सौ बरस तक सारा उत्तर भारत राधा-कृष्ण के नाम से गूँजता रहा और उत्तर भारत की सभी भाषाओं का साहित्य उसीमें रँग गया। उनके आन्दोलन ने भारतीय चित्रकला में राजस्थानी और काँगड़ा शैली को जन्म दिया। भगवान कृष्ण के जन्म से लेकर उनके स्वर्गारोहण तक की सभी लीलाएँ, साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और जन-गीतों द्वारा सहस्रों बार अभिव्यक्त हुईं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग ने मध्य युग की संस्कृति के निर्माण में विशेष रूप से भाग लिया। उसके बालक कृष्ण प्रत्येक घर में जन्म लेने लगे। उसकी राधा-कृष्ण के सम्बन्ध की मधुर कल्पना ने भारतीय घरों में प्रेम के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा की। बाद के शृंगार काव्य की धारा ने राधा-कृष्ण को लेकर साहित्य और धर्म का कुछ अपकार भी किया परन्तु इसके लिए वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग उत्तरदायी नहीं है। यह उस युग

की मनोवृत्ति का प्रभाव है जिसमें वल्लभाचार्य के शिष्यों का जन्म हुआ था तथा जिसमें उन लोगों ने काम किया था।

स्वयं वल्लभाचार्य के इष्टदेव बालक कृष्ण हैं। उन्हें श्रीनाथजी का बाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण और नवनीत-प्रिय रूप ही अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ। वल्लभ-सम्प्रदाय की पूजा-विधि से अब भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान का दैनिक कार्यक्रम बालक का ही है। प्रातःकाल सोकर उठने से रात्रि में शयन तक की दिनचर्या में आठ दर्शन होते हैं —(१) मंगलाचरण (२) शृंगार (३) ग्वालरूप (४) राजभोग (५) उत्थापन (६) भोग (७) संध्या-आरती (८) शयन। वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र गोकुल है। उसके मुख्य मन्दिर में नवनीत-प्रिय भगवान की ही प्रतिष्ठा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वल्लभाचार्य को सारी लीला कृष्ण-प्रिय थी और उन्होंने राधा को अपने मन में स्थान देकर मधुर भावना की उपासना को स्वीकार भी कर लिया था तथापि उनके इष्टदेव नवनीत-प्रिय बालक कृष्ण ही थे।

वल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात् उनके सम्प्रदाय में राधा का महत्व अधिक बढ़ा होगा। सम्भव है कि यह चैतन्यमत का प्रभाव हो। वल्लभाचार्य के समय में ही श्रीनाथजी के मंदिर में बंगाली वैष्णव पूजा के लिए नियुक्त किये गये थे। सम्भव है कि उस युग की शृङ्गार-प्रियता के कारण ऐसा हुआ है जिसकी झाँकी मुग़ल सम्राटों के वैभव में मिलती है। जो हो, पुष्टि-मार्ग ने हिन्दी में जिस साहित्य को जन्म दिया उसमें राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृङ्गार-रस ही अधिक प्रस्फुटित हुआ। 'अष्टछाप' के कवियों की जीवनियों के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले उनमें रसिकता की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला सम्बन्धी शृंगारिक पद गाकर उन्हें अपनी मनोवृत्ति के विपर्यय का अच्छा

अवसर मिला। विट्ठलदास के समय में तो सम्प्रदाय ने राधा को और भी अधिक महत्व दे दिया। उस समय के अन्य धर्म-सम्प्रदायों और युग की सामान्य प्रवृत्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती काल में अनाचार बढ़ाने का कितना दोष वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग पर डाला जा सकता है परन्तु दो शताब्दियों बाद इस सम्प्रदाय के आचारों में शिथिलता अवश्य आ गई थी।

मध्ययुग के सम्प्रदाय और पन्थ

भक्ति-काल के बहुत पहले ही सुदूर दक्षिण में अलवारों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति चल रही थी। इस उपासना-पद्धति को पहली-दूसरी शताब्दी के निकट पूर्ण विकास में पाया जा सकता है। बारह अलवार प्रसिद्ध हैं। इनके नाम यह हैं—पोयागेक अलवार, भुट्टर अलवार, पय अलवार, तिरुमालिसइ अलवार, नमल्लवार, पेरिया अलवार, अण्डाल, तुण्डर दुड्डी अलवार, तिरुपन्त्र् अलवार, तिरुमगेइ अलवार,

हम देखते हैं इनमें ६ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कई अस्पर्श्य हैं। एक महिला (अण्डाल) को भी इन भक्तों में स्थान मिला है। इससे स्पष्ट है कि अलवार भक्त वर्णाश्रम के सम्बन्ध में अधिक कट्टर नहीं थे। उन्होंने पहली वार जाति-पाँति के वन्धनों को शिथिल करने और ज्ञान तथा मायावाद के ऊपर भक्ति की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की।

१२ वीं शताब्दी के समीप शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। और इसके अनन्तर चार दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ—रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय और मध्वाचार्य का ब्रह्म सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में द्वैत अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की भिन्न सत्ता की स्थापना की। अद्वैत मत में माया का सहारा लेकर जीव और भगवान् की एकता प्रतिष्ठित की गई थी। उसमें भक्तों को स्थान नहीं रह जाता था। इसीलिये शंकराचार्य के वाद के आचार्यों ने जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता पर वल देकर भक्ति को संभव वना दिया है। जिन आचार्यों ने शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में वीड़ा उठाया, सौभाग्य से वे एक ऐसे प्रदेश से आये थे जहाँ भक्ति की लहर एक

शताब्दी से वह रही थी। सुदूर दक्षिण में अलवारों और उनके भक्तों ने लक्ष्मी-विष्णु को आराध्यमान कर भक्तिपूर्ण पदों की जनता में प्रतिष्ठा की। जहाँ अद्वैत भावना है, वहाँ भक्ति का कोई सर्व सुगम रूप प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसीसे द्वैत की प्रतिष्ठा आवश्यक हुई। परन्तु इन आचार्यों ने खान-पान और आचार-विचार के अनुशासनों को ढीला नहीं किया। बाद में स्वतंत्रचेत्ता रामानुज ने भक्तों में खान-पान और जाति-भेद के झंझटों का बहिष्कार किया। उन्होंने कहा कि श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं। वह स्वयं श्री सम्प्रदाय के भीतर थे परन्तु वास्तव में सम्प्रदायों से ऊपर थे।

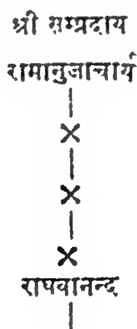
श्री सम्प्रदाय

श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य हैं। दार्शनिक मतवादों की विवेचना करते समय हमने इस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों को उपस्थित किया था। यह सम्प्रदाय भी अन्य सम्प्रदायों की भाँति सगुणवादी था और इसके आराध्य भगवान् रामचन्द्र थे। श्री सम्प्रदाय की परम्परा रामानन्द तक चली आती है जिन्होंने उसके प्रचार में विशेष योग दिया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह दार्शनिक सम्प्रदाय उस रूप में सम्प्रदाय नहीं थे जिस रूप में आगे चलकर संतों और भक्तों के सम्प्रदाय चले। उनमें भेद दार्शनिक और आचार सम्बंधी दृष्टिकोण का था, किसी व्यक्ति विशेष अथवा ग्रंथ विशेष को वह स्थान प्राप्त नहीं था जो मध्ययुग के संत-सम्प्रदायों को प्राप्त हुआ। प्रत्येक दार्शनिक मतवाद राम-कृष्ण में से किसी एक को इष्टदेव मानकर चलता था, परंतु वह दूसरे सम्प्रदाय के उपास्य के प्रति असहिष्णु नहीं था। वास्तव में सम्प्रदाय चलाने की यहि प्रवृत्ति बाद में दिखलाई पड़ती है।

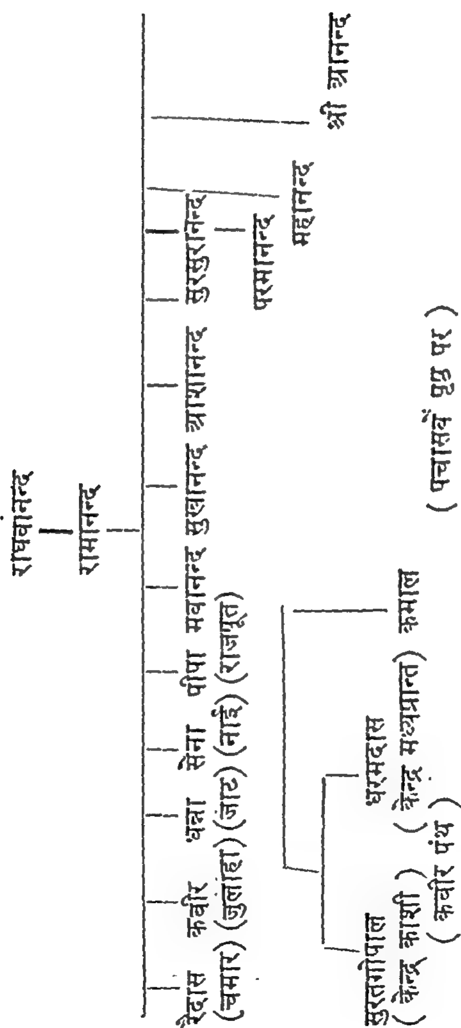
स्वयम् रामानन्द और उनके शिष्यों ने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। इससे जान पड़ता है कि वे व्यापक रूप से सुधार और प्रचार के पक्षपाती थे।

रामानन्द के शिष्यों में कबीर को लेकर उनके अनुयायियों ने कबीर-पन्थ खड़ा किया और फिर कबीर की भावनाओं से परिचालित अनेक पन्थों की बाढ़ ही आ गई। यह पन्थ अधिकतर समाज के निम्न भागों (अवर्णों) में फैले। इसका सबसे प्रधान कारण यह था कि श्री रामानन्द ने वर्णाश्रम के बंधन की व्यर्थता बताकर और शूद्रों तथा स्त्रियों को दीक्षितकर हीन-वर्ण जनता में एक ऐसा उत्साह भर दिया जो कदाचित् बुद्ध के समय को छोड़कर अभूतपूर्व था। इसीलिये यह अधिकाधिक धर्मप्राण होती गई और उच्च वर्ण की अत्यन्त उपेक्षा करके उसने अपने Church खड़े किये। सच तो यह है कि मध्ययुग के ये अनेक पंथ उच्च वर्ण समाज के प्रति भीषण असन्तोष के रूप में ही प्रगट हुये थे। रामानन्दी भक्तों की उस दूसरी श्रेणी में, जो रामचन्द्र के अवतार और चरित्र को लोकोपयोगी मानती थी, सगुण अवतार दाशरथि राम की उपासक थी एवं जाति-पाँति के बंधन स्वीकार कर के चलती थी, तुलसीदास हुए। जान पड़ता है रामानन्द का, राम सगुण ही हो या निर्गुण, इसमें से किसीपर विशेष आग्रह न था।

श्री सम्प्रदाय से फूटकर साधकों और पंथों की जो परम्परा फूट पड़ी उसे इस प्रकार वृक्ष-रूप में प्रगट किया जा सकता है :—



वे इस विषय में उदार रहे होंगे। उनके जो दो पद प्राप्त हैं वे उन्हें निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों दलों में खींचते हैं।



इन निर्गुण सन्तों को सगुणों ने सन्देह की दृष्टि से देखा। उन्होंने अपने अलग सम्प्रदाय चलाए। यह सम्प्रदाय सगुण इष्ट देवों को लेकर चले। इनमें निर्गुण के विरोध की भावना भी मिली थी। वैष्णव भक्त सम्प्रदाय के शीर्षक के नीचे हम इनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखेंगे।

इस समय कुछ ऐसे भक्त भी हैं जो धर्म-सम्प्रदाय से अलग खड़े दिखलाई देते हैं। इनमें गोस्वामी तुलसीदास और नाभादास प्रमुख हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट ही मत-मतान्तरों का विरोध किया। यह बात उनकी व्यापक-दृष्टि और दूरदर्शिता की द्योतक है। उन्होंने अपने रामचरितमानस के द्वारा वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, साकार उपासना, मूर्तिपूजा, सगुणवाद, गो, ब्राह्मण, राजा, देवादि, विविध नीतियों का समुचित सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और वेद-मार्ग का मंडन किया। परन्तु यह सौभाग्य की ही बात हुई। वे यदि चाहते तो रामचरितमानस को लेकर अपना अत्यन्त बलशाली सम्प्रदाय चला सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके ग्रन्थ ने साम्प्रदायिकता की सीमा लांघकर देश की बिखरी हुई शक्तियों को एक-सूत्र में बाँधने का आश्चर्यजनक चमत्कार किया। निर्गुण सन्तों और मुसलमानों के द्वारा हिन्दू धर्म और समाज में जो उच्छृंखलता फैल गई थी, वह इसी पुस्तक के द्वारा दूर हुई। मानस में निर्गुण सन्तों का विरोध स्पष्ट है। उनकी रचना का कारण ही पार्वती की ऐसी शंका है जो कबीर की साखी में मिलती है। नाभादास का प्रयत्न भी बहुत कुछ ऐसा था। उन्होंने संतों और भक्तों को एक पंगत में बिठाने की उदारता दिखाई। उनके भक्तमाल में आश्चर्यजनक सहिष्णुता है। सभी सम्प्रदायों के महात्माओं की स्तुति की गई है। भक्तों के समाज में इस दृष्टिकोण का कितना आदर हुआ यह भक्तमाल लिखने की परम्परा और नाभादास के छप्पयों की टीकाओं की संख्या से जाना जा सकता है। कबीर को भी राम मान्य थे, परन्तु अवतार के रूप

में नहीं। उन्होंने रामनाम और सत्यनाम को एक कहा था और रामलोक के स्थान पर सत्यलोक की प्रतिष्ठा की थी। निर्गुणियों के कई पंथ इसी निर्गुण परब्रह्म राम को मानते थे। तुलसी ने इसके सम्मुख भक्तवत्सल, मर्यादापुरुषोत्तम राम की स्थापना की जो दशरथ के पुत्र भी हो सकते थे और परब्रह्म भी रह सकते थे।

ब्राह्म सम्प्रदाय या मध्व-सम्प्रदाय

श्री सम्प्रदाय की तरह यह भी प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदाय है जिसके प्रमुख आचार्य श्री मध्व हैं। इस सम्प्रदाय का कहना है कि सबके आदि गुरू ब्रह्मा हैं। परन्तु श्री मध्वाचार्य के पहले इस मत का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ब्राह्म सम्प्रदाय द्वैतवाद का समर्थक है। हिन्दी साहित्य में इस सम्प्रदाय का प्रभाव चैतन्य के माध्यम से परोक्ष रूप से ही है यद्यपि चैतन्य-मतवादी कुछ हिन्दी कवि भी हो गए हैं। स्वयं चैतन्य से दीक्षा-प्राप्त श्री गोपाल भट्ट ने कृष्ण-काव्य में महत्वपूर्ण योग दिया है। जो हो, ब्रज-प्रदेश में यह सम्प्रदाय वल्लभ-सम्प्रदाय के बहुत पहले से ही प्रतिष्ठित था और सम्भव है कि वल्लभ सम्प्रदाय एवं अन्य कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों की गति-विधि पर इसने महत्वपूर्ण प्रभाव डाला हो।

(अड़तालिसवें पृष्ठ से) कमाल

|

दादूदयाल [दादूपंथ]

|

सुन्दरदास | रज्जब | जनगोपल | जगन्नाथ | मोहनदास | खेमदास आदि

रज्जब

|

जगजीवनदास (सतनामी संप्रदाय)

रुद्र सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री विष्णु स्वामी हैं और इसका दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत है। विष्णु स्वामी की ही परम्परा में १६ वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय को एक बार फिर संगठित किया। इसीलिए यह सम्प्रदाय वल्लभ-सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। वल्लभाचार्य ने इस सम्प्रदाय के लिए ही पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया। हिन्दी साहित्य के लिए वल्लभाचार्य और उनका सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार रामानन्द ने हिन्दी रचना कर अपने शिष्यों को भाषा में उपदेश लिखने की प्रेरणा दी, उसी प्रकार का काम वल्लभाचार्य ने भी किया। इनका एक हिन्दी भाषा का ग्रन्थ विष्णुपद है। परन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इनके सम्प्रदाय का काम है। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास और छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, नन्ददास—अपने पिता और अपने ये आठ शिष्य लेकर अष्टछाप की स्थापना की। १६ वीं शताब्दी का सारा कृष्ण-काव्य इस अष्टछाप द्वारा रचा गया है अथवा उसके साहित्य से प्रभावित है। विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने भी ब्रज-भाषा-साहित्य को पुष्ट किया। वास्तव में रुद्र-सम्प्रदाय का जितना साहित्य ब्रज-भाषा, राजस्थानी और गुजराती में है उतना साहित्य किसी अन्य सम्प्रदाय का नहीं और न उतना उत्कृष्ट साहित्य किसी अन्य सम्प्रदाय द्वारा हमारे सामने आया है। इस सम्प्रदाय ने रसखान-जैसे कितने ही लौकिक प्रेम के शिकार मनुष्यों को वासना के गर्त से निकालकर भगवद्विषयक रति की दीक्षा दी। इसका एक दूसरा महत्व भी है। निश्चित रूप से हिंदी गद्य का प्रवर्तन इसी सम्प्रदाय द्वारा हुआ। "८४" और "२५२" वैष्णवों की वार्तायें इसको प्रमाण हैं। इससे पहले का गद्य-साहित्य अधिक प्रामाणिक नहीं है।

सनकादि सम्प्रदाय या निम्बार्क सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ब्रह्मा के चार मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार कहे जाते हैं। इसके प्रमुख आचार्य निम्बार्क हैं जिनका दार्शनिक मत द्वैताद्वैत है। श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय की गद्दी मथुरा के पास ध्रुव क्षेत्र में है। इस सम्प्रदाय के लोग पश्चिमी भारत और बंगाल में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य में इस सम्प्रदाय ने अधिक योग नहीं दिया। हाँ, हितहरिवंश अवश्य निम्बार्क-मतावलम्बी कहे जाते हैं। हितहरिवंश ने सम्प्रदाय की उपासना-धारा से थोड़ा मतभेद देखकर अपने राधावल्लभी सम्प्रदाय या सखी सम्प्रदाय की १८२५ के लगभग विन्द्रावन में स्थापना की। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र वृन्दावन में राधावल्लभ का मन्दिर है। हितहरिवंश के मत में राधारानी महाशक्ति हैं और स्वामिनी हैं। भगवान कृष्ण उनके आज्ञानुवर्ती हैं। भगवान कृष्ण राधारानी की ही आज्ञा से विश्व की सृष्टि, भरण और हरण करते हैं। हितहरिवंशजी की तीन पोथियां राधा-सुधानिधि (संस्कृत), ८४ पद (व्रज) और स्फुट पद इस सम्प्रदाय के आधार-ग्रन्थ हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय

इस मत की स्थापना १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई। इसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास थे जिनका मत चैतन्य मत के सदृश था। वृन्दावन में इनका निजी मन्दिर है। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं जो व्रज-भाषा में है :—साधारण सिद्धान्त और इसके पद।

चैतन्य सम्प्रदाय

चैतन्य-सम्प्रदाय का दूसरा नाम गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्तक श्री गौरांग महाप्रभु चैतन्य हैं जो मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के दार्शनिक मतों के समर्थक थे। इनके बाद इनके

शिष्यों (जीव गोस्वामी आदि) ने इनके नाम पर एक नया दार्शनिक मतवाद चलाया। चैतन्य से भी पहले श्री माधवेन्द्रपुरी ने वृन्दावन में भगवान कृष्ण की मूर्ति की स्थापना की थी और उसपर मन्दिर बनवाया था। उनके बाद यही गौड़ीय वैष्णवों का केन्द्र हो गया। वास्तव में चैतन्य-सम्प्रदाय ब्राह्म सम्प्रदाय से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रखता है—कदाचित् उसीका प्रवर्तित रूप है।

कबीरपन्थ

कबीरपन्थ के प्रवर्तक कबीर माने जाते हैं परन्तु वास्तव में कबीर इसके प्रवर्तक नहीं हैं। कबीर सारे जन्य सम्प्रदायवाद का विरोध करते रहे। अतः यह पन्थ अनुयायियों का चलाया हुआ है। कहा जाता है कि कबीर की मृत्यु पर उनके पुत्र कमाल से पन्थ चलाने को कहा गया, परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। इस सम्बन्ध में प्रचलित दोहा है :—

डूबा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल

कमाल पहुँचे हुये सूफ़ी थे, अत उनसे कबीर किसी भी प्रकार लांछित नहीं हो सकते। यह उक्ति पन्थवादियों की जान पड़ती है। कबीर के जीवन-काल में ही उनके बहुत-से शिष्य हो गए थे परन्तु वह किसी एक विशेष सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं आते। कबीर की मृत्यु के बाद कदाचित् धर्मदास ने काशी और छत्तीसगढ़ (मध्य-प्रदेश) में कबीर-पन्थ की गद्दियाँ स्थापित कीं। इस प्रकार कबीर के व्यापक विचारों को एक सम्प्रदाय में सीमित कर लिया गया। यह कबीरपन्थ अभी तक चल रहा है। भारत में अब भी आठ-नौ लाख मनुष्य कबीर-पन्थी हैं। इनमें मुसलमान बहुत थोड़े हैं और हिन्दू बहुत अधिक। कबीरपन्थी कन्ठी पहनते हैं। बीजक, रमैनी आदि ग्रन्थों के प्रति पूज्य भाव रखते हैं, गुरु को सर्वोपरि मानते हैं। निर्गुण निराकार उपासक कबीरपन्थ के ही प्रभाव से ही अनेक पंथ निकल पड़े।

जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि अनेक कवि हो गए हैं। इन सबका अच्छा साहित्य है।

दादू तक पहुँचते-पहुँचते सगुण भक्ति-धारा का प्रभाव निर्गुण संतों पर पड़ने लगा था। इसका फल यह हुआ कि दादू-द्वारों में 'वाणी' की पोथी की षोडशोपचार पूजा और आरती होने लगी।

सतनामीपन्थ

इस पंथ के आविर्भाव और इसके प्रवर्तक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। १६७२ ई० के अन्त में औरंगजेब और सतनामियों में नरनोल के स्थान पर भीषण युद्ध का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। इस युद्ध में सहस्त्रों सतनामी मारे गए। १७४३ ई० के लगभग महात्मा जगजीवनदास ने वारहवंकी जिले में इस पंथ का पुनरुद्धार किया। इसकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनके शिष्य दूलनदास भी कवि थे और रचनाएँ भी प्राप्त हो चुकी हैं। १८वीं शताब्दी के लगभग गाजीदास ने छत्तीसगढ़ में चमारों के समाज-सुधार के लिए इस पंथ का प्रचार चमारों में किया। इस पंथ के लोग सत्यनाम का जाप करते हैं और एक सत्य निराकार परमेश्वर को मानते हैं। इनके यहाँ मद्य-मांस वर्जित है।

बाबा लालीपन्थ

वावा लाला का समय १७वीं शताब्दी का अन्त है क्योंकि १६४६ ई० में दाराशिकोह से इनकी भेटों का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। वावा लालीपंथ छोटा पंथ है। वड़ौदा के पास इसका एक मठ है जिसका नाम है 'लाला वावा का शैल'।

साधपन्थ

दिल्ली से दक्षिण-पूर्व की ओर दोआवा इस पंथ का केन्द्र है। १६५८ ई० में वीरभान ने यह पंथ चलाया। वीरभान के दोहरों और

साखियों का एक बड़ा संग्रह इस पंथ के पास है। साखियों के संग्रह का नाम 'ग्रांड इंजील' है। यह ग्रंथ सिंहासन पर रखा रहता है। साध लोग इस का विचार करते हैं और प्रत्येक पूर्णिमा को विशेष सत्संग करते हैं।

लालदासी पन्थ

लालदास मेव जाति के संत अलवर में हो गए हैं। इनका समय १७वीं शताब्दी है। इनके पंथ में स्त्रियाँ शामिल होती हैं और उपासना का रूप केवल रामनाम का जप और कीर्तन है। इस पंथ का मुख्य ग्रन्थ 'लालदास की वाणी' है।

शिवनारायणी पन्थ

इस पंथ के प्रवर्तक चंदवन (गाज़ीपुर के पास) के एक राजपूत शिवनारायण सिंह थे जिन्होंने १७३३ में इस पंथ की संस्थापना की। गाज़ीपुर ज़िले में इसके चार गद्दी (चार धाम) हैं। यह पंथ सभी जातियों और धर्मों के लोगों के लिए खुला है। पहले इसमें एक बड़ी संख्या में ब्राह्मण क्षत्री आदि सम्मिलित हुये पर अब अधिकांश अवर्ण जातियों के लोग हैं। इस पंथ के लोग निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं और शिवनारायण को उसका अवतार मानते हैं।

गरीबदासी पंथ

संत गरीबदास का समय १७१६-१७८२ है। यह रोहतक ज़िले के निवासी थे। इस पंथ का पूज्य ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहब' साखियों और पदों का एक बहुत बृहद् संग्रह है। इस पंथ के अनुयायी द्विज साधु ही हो सकते हैं।

रामसनेही पंथ

१७४२ ई० के लगभग संत रामचरण ने यह मत चलाया। इसका साहित्य वाणी और पदों में संकलित है। इस पंथ के तीसरे गुरु

दूल्हाराय के दस हज़ार पद हैं और चार हजार दोहरे। रामचरण का साहित्य भी बड़ा है। इस पंथ का केन्द्र शाहपुरा (राजस्थान) है। परन्तु वैसे इसके भजन-भवन (रामद्वारे) सारे राजस्थान में फैले हुए हैं। इस पंथ में साधु ही मिलते हैं, गृहस्थ नहीं। सत्संग-भजन और उपदेश उनका काम है।

परिनामो (प्रणामी) सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक पन्ना राज्य के प्राणनाथ परिणामवादी वेदान्ती हैं जो छत्रसाल के समकालीन थे। यद्यपि उनका मत सर्व धर्म-समन्वय था परन्तु इन्होंने विशेष रूप से गोलोकवासी भगवान कृष्ण से सख्य भाव से उपासना की शिक्षा भी दी। स्वयम् प्राणनाथ की रचनाएँ बहुत हैं। इनकी शिष्य-परम्परा ने भी अच्छा साहित्य दिया है। गुजरात, राजस्थान और बुंदेलखंड इस सम्प्रदाय के केन्द्र हैं।

वास्तव में निर्गुण और सगुण भक्तों के सामान्य विश्वास में बहुत भेद नहीं है। कबीर से तुलसी-सूर की ओर जाते हुए भावना और विश्वास में अधिक व्याघात नहीं जान पड़ता। इसका कारण वे धारणायें हैं जिन्हें दोनों प्रकार के साधकों ने सामान्य रूप से स्वीकार किया है। यहाँ हम उन्हींपर विचार करेंगे।

पहली बात जो दोनों मतवादों को स्वीकार है, वह है भक्त का भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध सगुण भक्तों में अधिक स्पष्ट हो सका है, परन्तु निर्गुण भक्तों में भी यह धारणा बलवान् है। यह सम्बन्ध कई प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

(क) जननी-बालक का सम्बन्ध

हरि जननी मैं बालक तेरा।
काहे न औगुन बगसहु मेरा॥

सुत अपराध करे दिन केते।
जननी के चित रहे न तेते॥
कर गहि केस करे जो धाता।
तऊ न हेत उतारे माता॥
कहे कबीर एक बुद्धि विचारी।
बालक दुखी दुखी महतारी॥

(ख) सखा-सखा का सम्बन्ध

सूर-साहित्य से इस प्रकार के सम्बन्ध के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास की सारी कथा को अत्यंत पास से देखा है। मित्र के लिये मित्र के व्यवहार में कुछ भी गोपनीय नहीं रह जाता है। इसीसे सूरदास अनासक्त भाव से शृङ्गार के गर्हित प्रसंग भी कह डालते हैं। कृष्ण से उनका सम्बंध इन पदों से स्पष्ट हो जाता है :-

स्याम सखा को गेंद चलाई।
श्री दामा मुरि अंग नचायो गेंद परयो कालीदह जाई।
धार गह्यो तब फेंट श्याम की देहु न मेरो गेंद मँगाई॥
और सखा जिन मोको जानो मोसो जिन तुम करो ढिठाई॥
जान बूझि तुम गेंद गिरायो अब दीन्हें ही बने कन्हाई॥
सूर सखा सब हँसत परस्पर भली करी हरि गेंद गिराई॥

फेंट छाँड़ि मेरी श्री दामा।
काहे को तुम रारि बढ़ावत तनक बात के कामा
मेरो गेंद लेहु वा बदले बाँह गहत कत धाई।
छोटो बड़ो न जानत काहू करत बराबरि आई।
हम काहे को तुमहि बराबरि बड़े नन्द के पूत॥
सूर श्याम दीन्हें ही बनिहैं बहुत कहावत धूत॥

(ग) स्वामी-सेवक का सम्बंध--

तुलसीदास ने अपने इष्टदेव से इसी प्रकार का सम्बंध स्थापित किया है--

दीन को दयालु दीन दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोऊ॥

× × ×

तोहिं माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो॥
पाहन, पसु, विटप, विहँग अपने करि लीन्हें
महाराज दशरथ के! रंक राय कीन्हें॥
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।
वारक कहिये कृपालु! तुलसीदास मेरो॥

(घ) पिता-माता और पुत्र का सम्बंध (वात्सल्य)। इस सम्बंध से भगवान् भक्त का पुत्र है और उसके प्रति भक्त का वात्सल्य का नाता है। सूरदास ने अपने इष्टदेव से इस प्रकार का सम्बंध भी माना है। वात्सल्य-भक्ति में नन्द और गोपियों को आदर्श माना गया है। वल्लभाचार्य का कथन है--

यच्च दुःखं यशोदाया नन्ददीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मय क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानाम च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं सम भूतन्वे भगवान् किं विधास्यति॥

(ङ) कान्ता-कान्त का सम्बंध

तुम बिन व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि।
अन्तरजामी छिप रहे हम क्यों जीवें दूरि॥
आप अपरछन होइ रहे हम क्यों रैन बिहाइ।
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ॥

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव
हरि बिन रह न सके मेरा जीव ॥ टेक ॥

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥
किया श्रृंगार मिलन क ताईं ।
काहे न मिलौ राजाराम गोसाईं ।
अब की बेर मिलन जो पाऊँ
कहै कबीर भौजलि नहिं आऊँ ॥

२—इस व्यक्तिगत सम्बंध द्वारा हीं भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। भक्ति को कबीर भी उतना ही उपादेय मानते हैं, जितना कथित भक्ति-कवि। यह अवश्य है कि कबीर ज्ञानी भी हैं और संसार को इसी दृष्टिकोण से देखते हैं। परन्तु सगुण भक्तों की तरह उन्होंने भी प्रेम को परम पुरुषार्थ माना है और मोक्ष को नीचे स्थान दिया है। वह उनके लिये गम्य नहीं है। प्रेम-भक्ति को अन्यतम लक्ष्य बनाना, यह दूसरी बात है।[1]

---

[1]—मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई ।
जा दिन तेरो कोई नाहीं ता दिन राम सहाई ॥ (कबीर)
स्याम बलराम को सदा गाऊँ
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव को,
स्वप्नहुँ माहिं नहिं हृदय लगाऊँ ।
यहै जप यहै तप यहै मम नेम-
व्रत यहै मम प्रेम फल यहै ध्याऊँ ॥
यहै मम ध्यान यहै ज्ञान, सुमरिन,
यहै सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ। (सूरदास)
करुनानिधान! वरदान तुलसी चहत,
सीतापति भक्ति सुरसरि-नीर मीनता। (तुलसीदास)

३--भक्त या गुरु को भगवान् का स्थान दिया गया है। कबीर ने गुरु को गोविन्द के समान कहा है। मध्ययुग के सारे भक्ति-काव्य में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा है।[1]

४--भक्त की परम साधना यह है कि वह भगवान् की लीला में भाग ले। उसकी लालसा भगवान् में लीन हो जाने अथवा सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने की नहीं है। वह भगवान् का सान्निध्य चाहता है, फिर चाहे वह लीला राम की ऐश्वर्य-प्रधान लीला हो, चाहे कृष्ण की मधुर व्रज-लीला।

५--भक्ति की कल्पना रहस्यमय है। 'राम-कृष्ण' के समान उनकी भक्ति भी अगाध है। भक्ति की महिमा अपार है।

६--मध्य युग में नाम की महान् महिमा है। निर्गुण और सगुण भक्तों में नाम को एक ही जैसा स्थान मिला है।[2]

---

[1]--गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागू पाँय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिया दिखाय ॥(कबीर)
बन्दौं गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ॥(तुलसी)

तब चत्रभुजदास ने कहयौ जो सूरदास जी ने भगवद् जस वर्णन कीयो परि श्री आचार्य जी महाप्रभू को ही जस वर्णन ना कीयो है। तब यह सुनि के सूरदास जी बोले जो में तो सब श्री आचार्यजी महाप्रभु को ही जस वर्णन कीयो है कछु न्यारो देखूँ तो न्यारो करूँ। (वार्ता)

[2]--सन्त नाम के सुमिरते, उधरे पतित अनेक।
कह कबीर नहिं छाड़िये सन्त नाम की टेक ॥ (कबीर)
राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।
घोर भव-नीरनिधि नाम निज नाव रे ॥ (तुलसी)

तुम्हरो नाम तजि प्रभु जगदीसर
सुतो कहो मेरे और कहो बल।

७--दोनों प्रकार के भक्तों ने प्रेम या भक्ति के क्रमशः विकास को स्वीकार किया है। यह क्रम इस प्रकार है--(१) श्रद्धा (२) साधु-संग (३) भजन-क्रिया (४) अनर्थ-निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) भाव (६) प्रेम। ये नवधा भक्ति के प्रकारों के मूल में हैं। मध्ययुग के भक्त अथवा उनके संतों को नवधा भक्ति के

बुधि-विवेक-अनुमान आपनै, सोधि
कह्यौ सब सुकृतानि कौ फल। (सूरदास)
नातो नाम को मोसो सूँ तनिक न तोड्यो जाइ। (मीरा)
सतगुरु तोहि बिसारी कै काके सरनै जायँ
शिव विरंचि मुनि नारदा हिरदे नहिं समायँ
अन्तरजामी एक तुम आतम के आधार
जो तुम छोड़ौ हाथ तैं कौन उतारै पार
कबीर क्या मैं चिन्त हूँ मम चिन्तै क्या होय
मेरी चिन्ता हरि करै, चिन्ता मोहि न कोय (कबीर)
म्हाने चाकर राखो जी
गिरधारी लाला चाकर राखो जी (मीरा)
दीनता दारिद छलै को कृपा वारिधि बाज
दानि दसरथ राम के तुम हौ गरीब निवाज
जन्म को भूखो भिखारी हौं गरीब निवाज
पेट भरि तुलसिहि जेंवाउय भगति-सुधा सुनाज
ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं
तुलसीदास हरि कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥
(तुलसीदास)

तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?
काके द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाऊँ।
ऐसे को दाता है समरथ जाके दिये अघाऊँ॥

इस समय हिन्दी प्रदेश में दो मुसलमानी भावनायें थीं, उनका इस मत पर प्रभाव पड़ा। १—इस्लाम की मुख्य विचारधारा ऐकेश्वरवादी थी। यह अवतारवाद नहीं मानती थी, पैग़म्बर की सत्ता को स्वीकार करती थी। संतमत में भी यह तीनों बातें ले ली गईं। संतमत भी ऐकेश्वरवादी था यद्यपि इस्लाम के ऐकेश्वरवाद और संतों के एकेश्वरवाद में बड़ा अन्तर था। इस्लाम का ईश्वर एक प्रकार से सगुण ही था। उसके सम्बन्ध में इस्लाम की दार्शनिक-धारणा बहुत ऊँची नहीं थी। संतमत का एकेश्वर निर्गुण था। संत भी अवतारवाद का खंडन करने लगे। अनेक संतों ने अपने को पैग़म्बर कहा और उनके अनुयायियों ने उन्हें वही स्थान दिया जो इस्लाम धर्मावलम्बी मुहम्मद को देते हैं। २—परन्तु ईरानी आर्य्य प्रभाव के कारण मुसलमानों के एक महत्त्वपूर्ण वर्ग में सूफ़ी विचारधारा चल रही थी। सूफ़ियों का ईश्वर निर्गुण होते हुए भी प्रेमयुक्त सगुण था। प्रेम साधना थी। आत्मा और परमात्मा को एक माना जाता था जो रूढ़िगत इस्लामी धारणा के विरुद्ध था। पैग़म्बर के माध्यम की आवश्यकता नहीं थी। सूफ़ी एक ज़ात से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ सकता था। सूफ़ी मत में सूफ़ी अल्लाह को माशूक़ समझता और उससे तीव्र उत्कट प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करता। इस सूफ़ी मत में गुरु का बड़ा महत्त्व था। संतमत ने निर्गुण ब्रह्म में प्रेम का गुण जोड़ दिया और उसकी दाम्पत्य-भावना से उपासना की। उन्होंने मूल भावना सूफियों से ली, परन्तु उनकी धारणा भारतीय और औपनैषदिक थी जहाँ मनुष्य मात्र स्त्री है, ईश्वर पुरुष। यह कल्पना श्रीमद्भागवत की कल्पना से बड़ा मेल खाती थी। संत अपनेको राम की बहुरिया मानकर प्रेम की साधना करता है।

साथ ही इस क्षेत्र में हिन्दुओं में वैष्णव भावना का भी विकास हो चुका था और वैष्णव (वासुदेव) धर्म का पुनरुत्थान दक्षिण में हो गया था और दो-तीन शताब्दियों के बाद उत्तरी भारत में आया।

उसने विष्णु, हरि, नारायण और राम के नाम का आधार लेकर उत्तरी भारत की जनता को सगुण भक्ति की ओर खींचा। सन्तों ने इससे प्रभावित होकर विष्णु, हरि, नारायण और राम को अपना लिया। लेकिन इन सब का सगुण के सन्दर्भ से अलग प्रयोग किया। इन नामों के प्रयोग के कारण संत-काव्य में वैष्णव भावना का आभास मिलता है। इस वैष्णव पुनरुत्थान में भी गुरु का बड़ा महत्व था। इस प्रकार संतों में गुरु की जो प्रतिष्ठा थी उसने भी अधिक बल पाया। इस समय धर्म-क्षेत्र में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, अतः उनका नाम संत-साहित्य के इस प्रारम्भिक काल में नहीं मिलता।

संतमत में आत्म-शुद्धि का बड़ा महत्व था। वास्तव में हठयोग, वैष्णव भक्ति और सूफ़ी इन तीनों भाव-धाराओं में आत्म-शुद्धि की प्रधानता थी और नैतिक आदर्श बहुत कुछ एक-से थे, केवल उनके प्राप्ति की विधि में अन्तर था। संतमत के आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श इस प्रकार थे—

आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श

१—आत्म-संयम—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और अहन्ता का त्याग (वासनाओं की बलि)

२—अपरिग्रह (कंचन-त्याग)

३—इन्द्रिय-संयम—निद्रा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, मादक वस्तु-त्याग, कामिनी-त्याग।

४—मानसिक संयम—कपट, आशा, तृष्णा, निन्दा और मन की चंचलता का त्याग।

५—आचार और व्यवहार-सम्बन्धी संयम—कुसंग-त्याग, दुर्जन संग-त्याग, तीर्थ-व्रत में आस्था का त्याग, अन्य देवता की पूजा का त्याग, वेष-भूषा सम्बन्धी आडम्बर का त्याग। इस निषेधात्मक आत्म-निग्रह के अतिरिक्त संत के कुछ विधेयात्मक कर्म भी निर्धारित थे।

सत् पुरुष (निराकार ईश्वर) में आस्था, नाम-स्मरण, शब्द, अनहद, भक्ति,[1] सुरत,[2] विरह,[3] पतिव्रता-प्रेम[4]।

---

[1] संतों की भक्ति सगुण भक्तों की भक्ति से कुछ भिन्न है। वह निर्गुण भक्ति या अद्वैत भक्ति है और उसके अंत में सान्निध्य या सालोक्य की प्राप्ति नहीं होती। सान्निध्य और सालोक्य का प्रश्न उसी समय तक है जब तक इष्ट देव का कोई रूप निश्चित है। निर्गुण ब्रह्म निराकार होने के कारण भक्ति का अंत सायुज्य मात्र में ही हो सकता है अर्थात्-भक्त ब्रह्म में मिल जाता है। यही सायुज्य संत का लक्ष्य एक है। कबीर का एक पद है—

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे
बिछुरे पंच तंत की रचना तब हम रामहिं पावहिंगे ॥ टेक ॥
जैसे जलहि तरंग तरंगनी एसै हम दिखलावहिंगे ॥
कहै कबीर स्वामी सुखसागर हंसहि हंस मिलावहिंगे ।

[2] निर्गुण संत प्रेम के साधक हैं। उनके अनुसार यह प्रेम एक महान् संगीत है जो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। "सुरति" इस संगीत की तान है, और 'विरत' इसके लय और ताल।

[3]—यह आध्यात्मिक साधना का परमरूप हैं जब संत निर्गुण ब्रह्म से मिलकर अद्वैतावस्था प्राप्त करने के लिए विकल हो जाता है। इस विरह-साधना का रूप निम्न पद से स्पष्ट हो जाता है।

राम बिन तन की ताप न जाई।
जल में अग्नि उठी अधिकाई ॥
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीना।
जल में रहौ जलहिं बिन पीना ॥
तुम्ह पिंजरा मैं सुवना तोरा।
दरसन देहु भाग बड़ मोरा ॥

[4]—कबीर ने आत्मा को प्रोषित पतिका माना है और निर्गुण के प्रति उसके प्रेम को इसी रूपक के आधार पर प्रतिव्रता प्रेम कहा है।

[1]--विश्वास, निज कर्ता का निर्णय[2], सत्संग, सहज, सारग्रहणी[3] मौन, परिचय[4], उपदेश, सत्य, प्रेम, उदारता, क्षमा, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक, गुरु-सेवा, आरती[5]। इन आदर्शों में भी कुछ आध्यात्मिक हैं, कुछ नैतिक और कुछ आचार-विचार सम्बन्धी।

संतों की साधना केवल वैयक्तिक और एकान्तिक साधना नहीं थी। वह समाज को दृष्टि में रखकर चलती थी। समदृष्टि, भेद-भाव का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे। संतों के लिए ब्राह्मण-अब्राह्मण और हिन्दू-मुसलमान सब बराबर थे। मुसलमानों के प्रवेश ने हिन्दू समाज के लिए कई समस्यायें उत्पन्न कर दी थीं। उनके आक्रमण से बहुत पहले ही हिन्दू समाज-संगठन

सामाजिक आदर्श

---

[1]--अपनी चिंता छोड़कर ईश्वर में विश्वास।

[2]--निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा।

[3]--जहाँ से भी मिले, वहाँ से अपने मतलब की बातें लेने से नहीं चूके।

[4]--ईश्वर ज्ञान।

[5]-संत मूर्तिवाद का खंडन करते हैं। "आरती" को वे केवल रूपक के ढंग पर ग्रहण करते हैं, व्यवहार में नहीं। यह विराट विश्व और उसके अनेक उपादान ब्रह्म की आरती को सजाते हैं। संतों ने इस निराकार की आरती के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। इस अखंड आरती को नानक ने इस तरह कहा है---

गगन तल थाल रवि चंद दीपक
बने तारका मंडल जनुक मोती।
धूप मलयानिलो पवन चवरो करै
सकल बन राय फूलंत जोती॥
कैसी आरती होय भव खडंना

छिन्न-भिन्न होने लगा था। मुसलमानी सामाजिक संगठन और एकता के सामने उसका टिकना कठिन था। वर्ण-विभाजन ने वर्ग-वर्ग में असंतोष पैदा कर रखा था। नीच वर्ण के लोग क्षुब्ध हो उठे थे। संतों ने इस संस्था को ही मिटाना चाहा। चाहे संस्कृति की दृष्टि से यह दृष्टिकोण ग़लत ही हो परन्तु वर्ण-विभाजन की कट्टरता के विरुद्ध आन्दोलन करना उस युग के लिए आवश्यक हो गया था। यह इस बात से और भी स्पष्ट है कि उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने भी थोड़ा-बहुत इस प्रकार का प्रयत्न किया। ऐसे काम करनेवालों में रामानन्द प्रमुख थे। अतएव यह स्पष्ट है कि वर्णाश्रम सम्बंधी काम ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दोनों ओर हुआ। नीचे से ऊपर कार्य करने अर्थात् नीचे वर्गों (अछूतों) में अनेक प्रकार के सुधार करने और उनमें से दुर्गुणों को निकाल देने का प्रयत्न करने का का सारा श्रेय सन्तों को है। उन्होंने हीन वर्णों को उच्च वर्णों के स्तर पर लाने की चेष्टा की। यह काम अधिक हुआ परन्तु सन्त सफल नहीं हुए। वास्तव में यह काम उसी समय सफल हो सकता था जब उच्च वर्ण के हिन्दू इस काम को अपने हाथ में लेते। परन्तु उच्च वर्णों में हीन वर्ण के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न करने का काम रामानन्द के बाद नहीं हुआ। कबीर के समय के बाद सगुण भक्ति-साहित्य की प्रधानता रही। यह साहित्य वर्णाश्रम संस्था को आवश्यक समझता था। कबीर के बाद के भारतीयों के जीवन में भक्तों का महत्वपूर्ण स्थान रहा और उनकी वर्णाश्रम-प्रियता के कारण एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या उलझी ही रह गई। उच्च वर्णों ने निम्न वर्ण के भक्तों को तो अपना लिया, परन्तु जहाँ पूरी जाति का प्रश्न रहा वहाँ वे किसी प्रकार भी अपने दृष्टिकोण को व्यापक न बना सके। "हरि को भजे सो हरि का होई।" वे केवल इतना आगे बढ़े।

संतमत के कुछ पारिभाषिक शब्दों के विषय में विचार करना आवश्यक है। इससे संत-विचारावलि को ठीक-ठीक समझने में सुगमता

होगी। इन पारिभाषिक शब्दों में शून्य, अनहद, निर्गुण और सगुण का महत्व सर्वाधिक है।

शून्य की कल्पना बौद्ध है। बौद्ध महायान दार्शनिकों की एक शाखा 'शून्यवादी' है। वह कहती है--संसार में किसी वस्तु की भी सत्ता नहीं है, सब शून्य है। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या इस प्रकार की है--शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वामवेत्। उभयं नोभयं चोति प्रज्ञपत्यर्थंतुकथ्यते॥ (जो है उसे हम शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं। उभय अर्थात् शून्य-अशून्य भी नहीं। इस प्रकार के अस्तित्व की प्रज्ञति के लिये 'शून्य' कहा गया है।) यह जैनों के सन्देहवाद से भिन्न है। इसे अनिर्वचनीयतावाद कहा जा सकता है। वह है या नहीं, हम कुछ नहीं कह सकते।

योगियों ने सहसार को शून्य का स्थान लक्षित किया है, उसे शून्य-चक्र कहा, और उसी शून्य से आत्मा का योग होने को परम लक्ष्य माना है।

कबीर ने भी मौलिक अर्थ किये। उनका शून्य (सुन्न सुन्न, महल) "कुछ नहीं" नहीं है। दादू ने स्पष्ट कह दिया है--

"कुछ नाहीं" का नांव धरि भरमा सब संसार
साँच झूठ समझै नहीं ना कुछ किया विचार

वह अभावसूचक नहीं है, ब्रह्म है, सर्वोपरि नित्य सत्य है। उस तरह विद्यमान है जिस तरह गुरु। इसीसे रज्जब ने कहा है—

सतगुरु शून्य समान है

उसे दूसरे शब्दों में वह ऊँची आत्मा-स्थिति कह सकते हैं जिसमें अद्वैत भाव का नाश हो जाता है।

अनहद नाद

शून्य की भाँति ही संत-साहित्य का एक दूसरा महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है "अनहद नाद।" इसे ही "निरन्तर सबद" और "सबद" भी

होगा। अपनेको 'राम की बहुरिया' समझकर मन में विरह उत्पन्न करना और उसके उत्तरोत्तर विकास का प्रयत्न करना—यही "सहज" है जिससे अंत में अद्वैतावस्था की प्राप्ति होगी।

कबीर और योगमार्ग

लोकमत योग-पंथ के सामने झुक रहा था। उसकी उपेक्षा करना कठिन था। इसलिये कबीर ने सतर्कता से काम लिया। उन्होंने योग के पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार कर लिया परन्तु उन अर्थों के ऐसे नये अर्थ लगाए जो उनकी मन की साधना के रूप को स्पष्ट करते थे। समाधि-अवस्था की प्राप्ति योग में ध्येय थी। कबीर ने सहज समाधि की घोषणा की—

साधो सहज समाधि भली
गुरु प्रताप जा दिन से उपजी दिन दिन अधिक चली ॥
जहँ तहँ डालो सो परिकरमा जो कछु करों सो सेवा।
जब सोवों तब करों दंडवत पूजों और न देवा ॥
कहाँ सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव-पियाँ सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखो दूजा ॥
आँख न मूँदो कान न रूँधो, तनिक कष्ट नहिं धारो।
खुले नैन पहिचानें हंसि हंसि सुन्दर रूप निहारो ॥
सब्द निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
उठत बैठत कतहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि भाई।
दुख सुख से कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई ॥

वास्तव में प्रचलित योग-पंथ के विरुद्ध उनका मत यह है—

उड़ामुद्रा रितं था अधारी। भ्रम कै भार भवै भेषधारी ॥
आसन पवन दूरि कर बौरे। छोड़ि कपट हितहरि भज बौरे ॥
जिहि तू चाहहिं सो त्रिभुवन भोगी।
कह कबीर कैसो जग जोगी ॥

कवीर का 'जोगी' यह है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात दिवस न करइ निद्रा॥
मन में आसन मन में सीगी
अनहद वेन वजावे रंगी॥
मन में आसन मन में रहना
मन का जप तप मनसूं कहना
पंज पजारि भसम करि वङ्का।
कहै कवीर सो लहसै लङ्का॥

वास्तव में कवीर के निकटवर्ती सारे प्रदेश में योगमत का प्रचार था। कवीर ने उसमत के माननेवालों के सामने उनकी ही परिभाषा में योग का नया परिष्कृत रूप रखा। यह कवीर का "सहज योग" था। इस मत में वाह्याचार का खंडन तो स्वाभाविक था ही, परन्तु कवीर ने योग की अभ्यांतरिक साधना को स्वीकार कर के उसे नया रूप देने की चे ा की थी। कवीर विरह के साधक हैं। जव तक साधक विरह की साधना तक नहीं पहुँच जाता तव तक उसका एक मात्र साधन नाम-स्मरण है। जव विरह की साधना तक पहुँच जाता है तव निष्काम अनन्य भक्ति से आत्मसमपूर्ण कर देता है। इस स्थिति को "लय माला" कहते हैं। इस "लय" की अवस्था तक पहुँचने के लिये ही कवीर ने गोरखमत की कुण्डलिनी, पटकमल, सुपुम्ना और सहस्त्रार सम्वन्धी मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है।

सन्त-काव्य का प्रारम्भ कव हुआ, यह अनिश्चित है। संत-काव्य की परम्परा में हमें सवसे पहले जयदेव के कुछ पद मिलते हैं जो ग्रन्थ साहव में संग्रहीत है। परन्तु जयदेव से सन्त-काव्य का आरम्भ मानना ठीक नहीं है। उनकी संस्कृत की रचना गीतगोविन्द कृष्ण-भक्ति का रुपक हो सकती है परन्तु उनकी हिन्दी कविता पर

सन्त-काव्य की परम्परा

हठयोगियों का प्रभाव है। वास्तव में उनके समय में (११७० के लगभग) संतकाव्य का आविर्भाव होना असम्भव है, क्योंकि उस समय तक मुसलमानों को आये हुए अधिक समय नहीं हुआ था और साहित्य में उनकी प्रतिक्रिया नहीं मिल सकती थी। हाँ, मुसलमान लेखकों के ग्रन्थों से जान पड़ता है कि उस समय सारे उत्तरी भारत में गोरखपन्थी अलख जगा रहे थे। ग्रन्थ साहब में दूसरा उल्लेख नामदेव (मृत्यु १३५०) का है। नामदेव के समय में संत-काव्य अवश्य प्रतिष्ठित हो गया था। नामदेव की जो रचनायें उपलब्ध हैं उनसे यही ध्वनि निकलती है। उनकी उत्तरकालीन रचनायें ग्रन्थ साहब में मिल जाती हैं। उनमें ईश्वर के व्यापक निर्गुण रूप का वर्णन है। नामदेव ने उत्तर भारत में बहुत-सी यात्रायें की थी। अत वह उत्तर के तात्कालिक सामान्य धर्म (निर्गुण मत) से परिचित हो गये तो कोई आश्चर्य नहीं। जो हो, नामदेव के समय तक निर्गुण भावना अस्पष्ट थी और उसमें रस और प्रेम का मिश्रण नहीं हुआ था। वह अभी उपासना-भाव तक ही केन्द्रित थी।

इसके बाद त्रिलोचन आते हैं। इनका जन्म १२६७ ई० में हुआ था। यह पंढरपुर के निवासी और नाभादास के समकालीन थे। नाभादास के अनुसार नामदेव और त्रिलोचन ज्ञानदेव के शिष्य थे जो विष्णु स्वामी सम्प्रदाय को मानते थे। इनके कुछ बाद सदन हुए। इनके अतिरिक्त वेनी की रचनायें भी ग्रन्थ साहब में है। यह रचनायें नामदेव से भी पहले की जान पड़ती हैं। इनमें हठयोग की अध्यात्म-शिक्षा प्रधान है, अतः यह संत-काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। इनकी भाषा प्राचीन और असंस्कृत है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति-काल के आरम्भ में ही संत-मत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसका साहित्यिक रूप पंढारपुर (महाराष्ट्र) में प्रतिष्ठित हुआ। यह भूलना नहीं चाहिये कि उस समय महाराष्ट्र और राजस्थान हठयोग के केन्द्र हो रहे थे।

रामानन्द (१२६८ में वर्तमान में हम संत-काव्य के आरम्भ से लगभग आधी शताब्दी आगे बढ़ जाते हैं। रामानन्द के दो पद ग्रन्थ साहब में मिलते हैं जिनमें एक निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आता है। रामानन्द का दूसरा पद हनुमान की स्तुति है। यह स्पष्ट है कि इस समय तक संतमत का कोई विशिष्ट रूप नहीं था और उसका साहित्य भी थोड़ा था। रामानन्द के शिष्यों ने ही उसे विशिष्ट रूप दिया और उसमें वृहद साहित्य उपस्थित कया। इनमें धन्ना, पीपा, रैदास और कबीर का साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है। धन्ना और पीपा के बहुत थोड़े पद मिलते हैं, और वह भी ग्रन्थ साहब में। रैदास का साहित्य भी अधिक नहीं है। उनके दो प्रधान ग्रन्थ हैं, रविदास की बानी और रविदास के पद। इनकी कविता बहुत सरल और साधारण है और उसमें उस समय की भाषा का प्रचलित रूप दिखलाई पड़ता है। उसमें फारसी और अरबी शब्दों का भी बहुलता से प्रयोग हुआ है। इनके बाद हम कबीर के साहित्य पर आते हैं।

कबीर का साहित्य मात्रा और प्रकार दोनों की दृष्टि से बहुत बड़ा है। उनकी रचनाओं का रूप मौखिक था, अतः अब उनका जो साहित्य उपलब्ध है उसका अधिकांश सन्दिग्ध है। उनकी रचनायें उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध की हैं और उनपर शिष्यों की भाषा, उनके लिपिदोष और उनके अपने व्यक्तिगत संतों का प्रभाव पड़ा है। स्वयं कबीर ने सारे उत्तर भारत का पर्यटन किया जान पड़ता है और स्वभावतः उनकी मूल भाषा को कई प्रान्तों की भाषा ने ढक लिया है। कबीर जैसे संत को भाषा की शुद्धता का आग्रह भी नहीं हो सकता। इन सब कारणों से कबीर की भाषा अत्यन्त अनिश्चित है और यद्यपि उनके विचार इतने नवीन थे कि उन्हें उनके शिष्य मूलतः बदल नहीं सकते थे, परन्तु उनमें कदाचित कुछ विचार उनके शिष्यों ने भी अवश्य जोड़ दिये होंगे। इस प्रकार हम कबीर के साहित्य के सम्बन्ध में बहुत प्रामाणिक मत उपस्थित नहीं कर सकते। जो ६१

पुस्तकें कबीर की रचनायें समझी जाती हैं उनमें से कितनी कबीर की हैं इसमें सन्देह है, परन्तु वे ग्रन्थ जो उनके और गोरख तथा मोहम्मद के सम्वाद के रूप में है वे निश्चय ही कबीर के नहीं हो सकते क्योंकि उनका इतिहास देना स्पष्ट है।

कबीर का मुख्य विषद ज्ञान और भक्ति है। यह भक्ति निर्गुण चरम सत्ता के प्रति है जिन्हें कबीर ने साहब, राम, सत्यपुरुष और शून्य आदि नामों से पुकारा है। कबीर की इस भक्ति को हम ज्ञानाश्रयी भक्ति अथवा ज्ञानमूलक भक्ति कह सकते हैं। आलम्बन के निर्गुण और निरकार होने के कारण कबीर की भक्ति में रहस्यमयता आ गई है इसीके आधार पर विद्वानों ने कबीर के रहस्यवाद का रूप स्थिर किया है। यह रहस्यवाद मूलतः भारतीय है यद्यपि उसपर सूफी रहस्यवाद की प्रेमपरता और तन्मयता का भी प्रभाव पड़ा है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है परन्तु इस संसार में वह विरहिणी के रूप में रह रही है। सांसारिकता ने उसको संकुचित कर दिया है और वह अपने सत्य स्वरूप को नहीं पहचानती। भक्ति और ज्ञान की साधना से मनुष्य की आत्मा शुद्ध हो जाती है और उसमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह एक प्रकार का अन्तः मिलन है। निर्गुण भक्तों का यही लक्ष्य हैं और उनकी कविता में इस मिलनाकांक्षा की तीव्रता और मिलनानन्द के सुन्दर चित्र मिलते हैं।

कबीर का साहित्य वैयक्तिक" होते हुए भी अपने समय की वास्तविकता से पलायन नहीं करता। कबीर ने अपने समय के धार्मिक पाखंडों का खंडन किया है और हिन्दू-मुस्लिम के विरोध और ब्राह्मण-अब्राह्मण के भेद-भाव की असत्यता और कृत्रिमता पर विचार किया है। उन्होंने आश्चर्यजनक प्रतिभा से अपने समय की समस्याओं को समझने और सामाजिक विषमताओं के सुधारने का प्रयत्न किया है। उनकी सार्वभौम दृष्टि उन्हें संसार के महत्तम स्वतंत्र चिन्तकों में स्थान देती है। कबीर और तुलसी मध्ययुग के सबसे बड़े सुधारक

थे और दृष्टिकोणों की भिन्नाता होते हुए भी दोनों के साहित्य ने भारतीय जन-समाज की सामाजिक और नैतिक भावनाओं का सुधार किया।

कबीर-साहित्य में केवल दो रस हैं—शांत और शृंगार। शृंगार का आलम्बन निराकार होने के कारण उनके इस प्रकार के साहित्य में अत्यन्त विचित्रता आ गई है। उनके काव्य में काव्य-गुणों और अलंकारों को अधिक स्थान नहीं मिला है। कबीर संत और उपदेशक थे, उनके लिये साहित्य-रचना का उद्देश्य गौण था।

कबीर के बाद उनके ढँग के साहित्य की रचना की परम्परा चल पड़ी और कितने ही संतों ने उसमें योग दिया।

धरमदास (१४१८—लगभग १५१२)

धरमदास के ग्रन्थों में सबसे ऊँचा स्थान 'सुखनिधान' का है, वैसे उनके लिखे हुए कई ग्रन्थ हैं। इनका साहित्य न कबीर की भाव-भूमि तक पहुँचता है न उनकी प्रकाशन-भूमि तक। उसमें वैसी तन्मयता, प्रचंडता और तीव्रता नहीं है। कबीर का साहित्य उनके व्यक्तित्व का पूरा प्रतिविम्ब है। उनके बाद के संतों में वह व्यक्तित्व नहीं पाया जाता। फिर भी इनके 'विरह में भी आध्यात्मिक संदेश और रहस्यवाद उच्च कोटि का मिल जाता है। कबीर-साहित्य में जिन-जिन विषयों पर लिखा गया है उन्हीं विषयों पर धरमदास ने भी लेखनी चलाई है, परन्तु इनके साहित्य में वह भाग अधिक है जिसका सम्बन्ध पंथ की पूजन-विधि अथवा आचार से है। आरती, विनती, मंगल और प्रश्नोत्तर आदि प्रसङ्ग इसी भाग के अन्दर आते हैं। भाषा में इतनी वैचित्रता नहीं जितनी कबीर की भाषा में। उस पर पूर्वी हिन्दी की छाप है।

श्री गुरु नानक (१४६९—१५३८)

नानक की रचनाओं में एकेश्वरवाद पर अधिक बल दिया गया है, वैसे हिन्दू-मुसलमानों की अभिन्नता और मूर्ति-पूजा-विरोध भी इनका विषय है। उनका मत कट्टर निर्गुणी कबीर जैसा नहीं है। वह सहिष्णु है।

शेख इब्राहीम (१५५२)

इनके पद फरीदसानी के नाम से ग्रन्थ साहब में मिलते हैं।

मलूकदास (१६३१—१७३९)

मलूकदास तक पहुँचते-पहुचते निर्गुणधारा सगुणधारा की ओर झुकने लगी थी। कबीर की उच्च भाव भूमि तक सभी का उठना कठिन था। इस समय राम-भक्ति पूर्ण रूप में विकसित हो गई थी। अतः कबीर के निर्गुण राम को सगुण राम मान लिया गया था। मलूकदास की रामावतार लीला (रामायण) यही सिद्ध करती है। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञान बोध है। इसमें भक्ति और वैराग्य का वर्णन है। उपदेश, चेतावनी आदि निर्गुण संतों जैसी है। काव्य का प्रभाव भी शिक्षित है। इन्होंने कवित्त भी लिखे हैं।

सुथरादास

इन्होंने मलूक परिचय नाम देकर मलूकदास की जीवनी लिखी

दादूदयाल (१५४४—१६०३)

कबीर के बाद संत साहित्य के सबसे महान् कवि दादू ही हैं। इनका साहित्य भी कबीर के साहित्य की तरह विशाल है। इन्होंने संतमत के सभी परिचित विषयों पर ५०० से ऊपर पद लिखे हैं। दादू की कविता का एक अंग सूफ़ी साहित्य अत्यन्त निकट है। ऐसा लगता है, जैसे वह सूफ़ी सिद्धांतों की व्याख्या में लिखा गया है। डा० ताराचन्द ने इसका कारण दिया है कि दादू कमाल के शिष्य थे और

कमाल पश्चिमी भारत के सूफ़ियों और उनके साहित्य से भली भाँति परिचित थे। दादू के साहित्य पर कबीर के साहित्य की पूरी छाप है। उन्होंने लगभग उन सब विषयों पर लिखा है जिन पर कबीर उनसे पहले रचना उपस्थित कर सके थे। इनकी कविता की भाषा कबीर की भाषा से बहुत कुछ भिन्न थी। पूरबी भाषा तो इनकी रचना में कहीं भी नहीं मिलती। प्राधान्य मारवाड़ी और कहीं-कहीं गुजराती मिश्रित पश्चिमी हिन्दी का है। कहीं-कहीं पंजाबीपन भी देखने में आ जाता है पर कम। हाँ, गुजराती और मारवाड़ी का पुट क़रीब-क़रीब बराबर है। कारण स्पष्ट है। इनके जीवन का उत्तरार्द्ध मारवाड़ में बीता और यही इनका रचना-काल रहा। बाल्य और कैशोर काल में गुजरात में रहना भी इनकी रचना पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था। इनके कुछ ठेठ पद राजस्थानी और गुजराती में भी हैं। दो-चार पद पंजाबी में भी मिलते हैं।" दादू की रचनाओं में प्रसाद गुण की अधिकता है और माधुर्य भी कबीर से कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि उनकी प्रवृत्ति कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक नम्र और मधुर थी। वे सुधारक नहीं थे जिस प्रकार कबीर थे। वे केवल साधक थे। इसीलिये उनके पदों में अभिमान झलकता तक नहीं। उन्होंने भगवान को इस तीव्र, व्यक्तिगत भक्ति-भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेम-मिलन और विरह का चित्रण अत्यन्त सुंदर लगता है और मार्मिक चित्र उपस्थित हो सका है। दादू जैसे उस निर्गुण, निराकार, चिन्मय ब्रह्म से मिलने के लिए तड़प ही उठे हैं। ऐसे पदों में सगुण भक्त कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं—वही तन्मयता, वही सरलता, वही तीव्रासक्ति। कबीर ने दादू के लिए मार्ग साफ़ कर दिया था। उन्हें जिस विरोध का सामना करना पड़ा उससे दादू परिचित नहीं थे, इसीसे उनकी वाणी का स्वर अत्यन्त शिष्ट, नम्र, अतः अधिक प्रभावोत्पादक है।

वीरभानु—(आ० का० १६०३) इनके काव्य की मात्रा भी

बहुत अधिक है और वह साध या सतनामी मत की साम्प्रदायिक वस्तु समझी जाती है। वीरभान के काव्य-संग्रह को 'पोथी' कहा जाता है और उसकी पूजा की जाती है। विषय वही है जो अन्य संत कवियों के थे और उनमें काव्य की मात्रा भी अधिक नहीं है।

लालदास—(१६४२) इसके पद कबीर के सिद्धान्तों के आधार पर ही लिखे गए हैं।

हरिदास—हरिदास के पद प्रसिद्ध हैं और वे इनके नारायणी पन्थ के पूजा-अर्चन की सामग्री हैं।

इसी समय के अन्य सन्त हैं—शिवरानी शिदाली, हरिरायपुरी, जद्दू, प्रतापमल विनावली (हीरामन कायस्थ के पुत्र), आज़ादह (ब्राह्मण) और मिहिरचक्र (सुनार)। संतों की यह परंपरा आधुनिक काल तक बराबर चलती रही है और आज भी अनेक निर्गुण संप्रदाय और उसी संप्रदायों के अनेक संत-कवि हमारे बीच में उपस्थित हैं, परंतु उनका साहित्य अधिकांश पिष्टपेषण है। मध्ययुग की समाप्ति पर संत-काव्य की प्रगतिशीलता जाती रही, वह परंपराबद्ध होकर निष्प्राण हो गया, इसमें संदेह नहीं।

४

सगुण भक्ति-काव्य

सगुण मतवाद को मुख्यत: दो पुस्तकों ने प्रभावित किया है। इनमें से पहली भागवत है और दूसरी के स्थान पर हम वाल्मीकि-रामायण अथवा आध्यात्म-रामायण को रख सकते हैं। अन्य अनेक स्मार्त-ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है, विशेषकर तुलसी के साहित्य से। परन्तु भागवत का प्रभाव किसी भी अन्य पुस्तक से अधिक है, यह बात थोड़े परिश्रम से जानी जा सकती है। भागवत के कृष्ण के समकक्ष ही तुलसी ने राम की प्रतिष्ठा की है एवं अनेक सिद्धान्त भागवत से लिये हैं। यही नहीं, उनका काव्य भी उससे प्रभावित है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भागवत में माधुर्य-भाव की प्रधानता है, वहाँ मानस में दास्य- भाव की। इसलिए भागवत की विचारधारा का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

भागवत के भगवान कृष्ण परमेश्वर हैं—

भागवत के भगवान

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

(भागवत)

वे अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति, अवस्थिति और प्रलय के कारण हैं। यह मनुष्य की ज्ञानमंडित सर्वोच्च कल्पना है जिसने भगवान को सब के आदि में रख दिया है। इस स्थिति में वे लोकोत्तर हैं। यह भगवान कुछ कारणों से अवतार धारण करते हैं। वे कारण हैं—

भगवान के अवतार

स्वलीला कीर्ति विस्तारात् भक्तेष्वनुजिघृक्षया
अस्य जन्मादि लीलानं प्राकट्य हेतुरुत्तमः

(लघुभागवतामृत)

भगवान अपनी लीलाकीर्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए अथवा भक्त के आनन्द के लिए प्रगट होकर लीलाएँ करते हैं। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिसे गीताकार ने इस प्रकार कहा है :—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्।

जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, तो लोकमंगलकारी भगवान धर्म के पुनर्स्थापन के लिए एवं दुष्टों के विनाश के लिये अवतार लेते हैं।

भगवान के अवतार कितने ही हैं, परन्तु उन्हें सुविधा के लिए तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है--

भगवान के अवतारों के रूप

१—स्वयम् रूप--राम-कृष्ण (जो तत्वतः भगवद् रूप हैं)

२--तेदकात्मरूप जो तत्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न है—मत्स्य, वाराह आदि।

३—आवेश रूप- जिसमें भगवान महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते हैं--नारद, शेष, सनक, सनन्दन। इन अनेक रूपों में एकता है—

भगवान के अनेक रूपों में एकता

यथेन्द्रियः पृथग्द्वारः अर्थो बहु गुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वत भगवान् शास्त्र वर्त्मगभः
(भागवत ३, ३२, ३३)

(जैसे इन्द्रियों के प्रथक द्वारों से आकर बहुगुणाश्रित वस्तु एक ही प्रकार की समझ पड़ती है, उसी प्रकार भगवान-विषयक ज्ञान है) यहीं नहीं सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भी विरोध नहीं है—

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

तथापि भूयन् महिमा गुणस्य ते
विन्बेद्धु महत्य मलान्तरात्माभिः॥
अविक्रियात्स्वानुभवाद रूपतो,
ह्यनन्य बोधात्मतया न चान्यथा।

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विभातु
हिताववतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य
कालेन पैर्वा विमिता : सुकल्पै
भूपासव : खे महिकाघु मासः

(भागवत १०, १४, ६-७)

(हे परिच्छेद-रहित, इस प्रकार आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है और भक्ति से ही आप जाने जाते हैं, तो भी निर्मल अंत:करणवाले जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष आत्माकार अन्तः-करण से, साक्षात्कारता से, निर्विकारता से, अरूपता से, अनन्यबोध से कुछ-कुछ आपकी महिमा को जान सकते हैं। परन्तु और किसी प्रकार से आप जानने में नहीं आते। हे गुणात्मन्, आप गुणों के आधार हो। इस विश्व का मंगल करने के लिए आपने इस संसार में अवतार लिया है, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन गुणों के आप साक्षी हो, आपके इतने गुण हैं जिनके गिनने के लिए कौन पुरुष सामर्थ्यवान हो सकता है। कोई चतुर पुरुष बहुत दिनों में बहुत से जन्म धारण कर के पृथ्वी रेणु की गिनती कर ले, आकाश के हिमकण की गिनती कर ले और स्वर्ग के नक्षत्रादि के परमाणुओं को भी गिन ले, परन्तु आपके गुणों का पार कोई किसी प्रकार नहीं पा सकता।)

वास्तव में निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। भागवत कहती है--

वदन्ति तत्तत्त्व विदस्तत्त्वं य ऽ ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्धते॥

(१।२।११)

(एक अद्वय ज्ञान तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान तीन प्रकार से कहा गया है। यह विभिन्नता उपासना-भेद के कारण है। ज्ञानी जिसे ब्रह्म-रूप मानता है, वह योगी के लिये परमात्मा-रूप और

भक्त के लिए भगवद्रूप है। यही कारण है कि सगुण साहित्य में पग-पग पर सगुण रूप के पीछे निर्गुण सत्ता की प्रतिष्ठा चलती है—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
(१०।९।१३-१४)

(जिसका भीतर-बाहर नहीं है, पूर्व-पश्चात् नहीं है, इतने पर भी स्वयं ही जगत के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदि में भी है और अंत में भी है, यहाँ तक कि जो स्वयं जगतरूप में भी विराजमान है, जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—उसी भगवान के मनुष्याकार धारण करने से उसे अपना पुत्र मानकर यशोदा ने प्राकृत बालक की तरह रस्सी से ऊखल में बाँध रखा है।)

भगवान की प्राप्ति का साधन

भगवान को प्राप्त करने का साधन भक्ति है। यद्यपि भगवान की भक्ति भगवत् कृपा का ही फल है, परन्तु साधक भक्त को भी किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत भगवान की ओर अग्रसर होना पड़ता है। इसके लिए प्रत्येक सम्प्रदाय में अनेक विधि निषेध निर्धारित किये गये हैं और पूजा-आराधना की प्रतिष्ठा हुई है।

भक्ति दो प्रकार की है—रागानुगा और वैधी। रागानुगा भक्ति में तन्मयता को अधिक स्थान मिला है। वह एकान्तिक भक्ति है जो इष्टदेव के सिवा और किसी कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं देखती। वह 'विषयासक्ति' का ही वह रूप है जो भगवान की ओर उन्मुख होता है। सांसारिक नाशवान् वस्तुओं के प्रति जो विषयासक्ति होती है, वह नरोन्मुख है। ईश्वरोन्मुख या भगवद्-विषयक होने पर यही विषयासक्ति रागानुगा भक्ति हो जाती है। वैधी-भक्ति में भक्त की कर्त्तव्यबुद्धि

सदैव जाग्रत रहती है और वह अन्त तक विधि-नियमों का पालन करता जाता है। परन्तु यह नहीं कि रागानुगा-भक्ति में कुछ विशेष विधि-निषेध हों ही नहीं। जब तक भक्त तन्मयता की अवस्था को नहीं पहुँच जाता तब तक यह बन्धन तो है ही। निषेध ये हैं—

१. हरि-विमुख लोगों का संग
२. शिष्य, संगी, भृत्य आदि द्वारा किया गया अनुबन्ध
३. महारम्भ का उद्यम
४. नाना ग्रंथ, कलाओं और वाद्यों का अभ्यास
५. कृपणता
६. शोकादि के वशीभूत होना
७. अन्य देवता के प्रति अवज्ञा
८. जीवों को उद्विग्न करना
९. सेवापराध अर्थात् साधु निन्दा, शिव और विष्णु का पृथकत्व चिन्तन, गुरु-अवज्ञा, वेदादि-निन्दा, नाम माहात्म्य के प्रति अनास्था, हरिनाम की नाना विधि अर्थ-कल्पना, नाम, जप और अन्य शुभ कर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालु को नामोपदेश नाम के प्रति अप्रीति

वैध भक्त की तीन अवस्थायें होती हैं—श्रद्धावान नैष्ठिक और रुचियुक्त। ये लोग दो मूल तत्व और पाँचों अंगों को स्वीकार करते हैं, दो मूल तत्त्व हैं—(१) भगवान ही एक मात्र जीवों को स्मर्तव्य है और जो उसके सुमिरन में सहायक हैं वे ही कर्म भक्त के कर्तव्य हैं चाहे वे कुछ भी क्यों न हों। (२) भगवान को भूल जाना अमंगल है और इस अमंगल के सहायक सभी कार्य त्याज्य हैं। पाँच अंग इस प्रकार हैं--(१) भगवान के विग्रह [मूर्तियों की सेवा] (२) कथा-सत्संग (३) साधु संग (४) नाम-कीर्तन और (५) व्रजवास।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं—ॐ महात्मा-

भक्ति के प्रकार

आसक्ति, रूपासक्ति पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधाभनते। परन्तु इनमें पाँच मुख्य हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, ये पाँचों भगवद् प्रेम की पूर्ण अवस्थायें हैं। यह प्रेम इस क्रम से उदय होता है—(१) श्रद्धा (२) साधुसंग (३) भजन-क्रिया (४) अनर्थ-निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) भाव (९) प्रेम।

भक्ति-काव्य में रस

अलंकारिकों के रस भक्तों के रस से भिन्न हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं आलम्बन-भेद के कारण अलंकारिकों के रस जड़ोन्मुख हैं और भक्तों के रस ईश्वरोन्मुख-भक्त। काव्य में अलंकारिकों के केवल दो रसों का प्रयोग हुआ है—शान्त रस और शृंगार रस। यही प्रधान रस हैं। अन्य रस (हास्य, अद्भुत, वीर, करुणा, रौद्र, भयानक गौण रस कहे जाते हैं। उनसे भगवत्-प्रेम के उद्दीपन में सहायता ली जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नवीन रसों का प्रयोग भी भक्तिकाव्य में हुआ है) जिनके स्थायी भाव और रतिभाव नीचे तालिका में दिये जाते हैं—

(स्थायी भाव)	(रति)
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेम
वात्सल्य	अनुकम्पा

परन्तु यदि हम भक्ति-काव्य का भली भाँति अध्ययन करें तो यह स्पष्ट है कि भक्तों ने भगवान की लौकिक लीलाओं को अपने काव्य का आधार बनाकर उन्हें लौकिक रसों से भी पुष्ट किया है। उदाहरण के लिए, सूरदास के बालकृष्ण-सम्बंधी प्रसंगों में अनुकम्पा-रति के साथ-

साथ वात्सल्य-रति भी है। जहाँ कवि एक ओर यशोदा के आनन्द को चित्रित करता है वहाँ उसी स्थान पर दूसरी ओर अपने लिये अनुकम्पा की याचना करता है।

मध्ययुग के हिन्दी साहि य के विषय में दो बातों का ध्यान रखना होगा।

१. यह साहित्य भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में रचा गया, इसलिये इसपर विभिन्न धर्म-वादों और सम्प्रदायों की छाप है एवं इसके द्वारा साहित्यिक साधना नहीं, वरन् धार्मिक साधना का रूप हमारे सामने आता है। २. मध्ययुग का भक्ति-आन्दोलन एक विराट जन-आन्दोलन था, इसलिए उसमें जन-भावनाएँ ही अधिक अभिव्यक्त हुई हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के भक्तों के साहित्य में शास्त्रीय ढंग का काव्य बहुत कम है, सगुण सम्प्रदायों में संस्कृत स्मार्तधर्म-ग्रन्थों के प्रभाव के कारण उसका काव्य शास्त्रीयता से भी पुष्ट हो सका है, परन्तु उसका मूल भी जन-साहित्य में है।

(क) राम-काव्य धारा

रामोपासना का प्रचार कदाचित् अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापक रूप से चला आ रहा है। मध्ययुग से पहले इसमें सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा भले ही नहीं हो, परन्तु ऐतिहासिक खोजों से यह पता चलता है कि शताब्दियों पहले भारत की धर्म-भावना और चिन्तन-धारा राम को ही लेकर चलती थी। वैष्णव भक्ति में राम-भक्ति कृष्ण-भक्ति से प्राचीन है।

रामावत सम्प्रदाय

राम पूर्व तापनीय और उत्तर तापनीय उपनिषदों में इसी रामोपासना का प्राचीनतम रूप मिलता है। महाभारत और पुराणों[1] में भी

[1] १८ पुराणों में से प्रत्येक में रामायण की कथा है और कुछ उपपुराणों में भी इस प्रकार की कथा है

यही बात मिलती है। अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-सम्वाद संहिता (वन पर्व) भी राम-सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ है। राम को लेकर जितना साहित्य लिखा गया है उसका दशांश भी कृष्ण को लेकर नहीं, इससे रामोपासना की व्यापकता और प्राचीनता का पता चलता है। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण[1] (शिव-पार्वती सम्वाद), संवृत्त रामायण (नारद), अगस्त्य रामायण (अगस्त्य) लोमस रामायण (लोमस ऋषि), मंजुल रामायण (सुतीक्ष्ण ऋषि), सौपद्म रामायण (अत्रि ऋषि), रामायण महामाला (शिव-पार्वती सम्वाद) सौहार्द्र रामायण (शरभंग ऋषि) रामायण मणी रत्न (वशिष्ठ और अरुंधती सम्वाद) सौर्य रामायण (हनुमान-चन्द्रमा सम्वाद) चान्द्र रामायण (वही) मैन्द्र रामायण (मैन्द्र-कौरव सम्वाद) स्वायम्भुव रामायण (ब्रह्मा-नारद सम्वाद), सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण (सुग्रीव-तारा सम्वाद), देव रामायण (इन्द्र जयन्त सम्वाद), श्रवण रामायण (इन्द्र-जनक सम्वाद) दुरन्त रामायण (वशिष्ठ-जनक सम्वाद) और रामायण चम्पू (शिव-नारद सम्वाद) —यह विशाल साहित्य प्राचीन संस्कृत साहित्य का वह अंश है जो राम-भक्ति और रामोपासना से प्रभावित होकर लिखा गया है। इन रामायणों में से अधिकांश के राम, विष्णु के अवतार हैं। अध्यात्म रामायण और योग वाशिष्ठ महारामायण अद्वैतवादी ग्रन्थ हैं। उपनिषदों और रामायण के राम परात्पर ब्रह्म हैं।

मध्ययुग में रामावत उपासना को रामानन्द ने विशेष बल दिया। इनसे पहले रामानुजाचार्य भी रामोपासक हो गए थे परन्तु वह ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी विशिष्टाद्वैत उपासना को प्राधान्य देते थे। वे राम को विष्णु और नारायण का अवतार मानते थे। रामानन्द ने राम की उपासना परब्रह्म के रूप में चलाई। वे भी विशिष्टाद्वैतवादी थे,

[1] यह ब्रह्माण्ड पुराण की कथा है

परन्तु वे अपने मत का प्रतिपादन नए ढंग से करते थे। रामानन्द के समकालीन नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया। उत्तर भारत में सदन और वेनी ने भी इसी प्रकार का काम किया।

रामानन्द की अधिकांश शिक्षा मौखिक जान पड़ती है, अतः उनके शिष्यों के मतों से हम उनका मत निकाल सकते हैं। रामानन्द सगुण राम के उपासक थे परन्तु राम को विष्णु का अवतार न मान कर परात्पर ब्रह्म का अवतार मान लेने से उनके राम में निर्गुण ब्रह्म का कुछ अंश भी आ जाता था। रामानन्द ने कोई सम्प्रदाय विशेष खड़ा नहीं किया परन्तु उनकी सहिष्णुता के कारण उनकी रामोपासना रीति स्मार्तों में बिना सम्प्रदाय-भेद के फैली। रामानन्द के बाद, युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, उनके निर्गुणी शिष्यों ने राम के नये ही अर्थ किए और अवतारवाद पर चोट की। कबीर ने कहा--

दशरथ सुतु तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

परब्रह्म के रूप में राम निर्गुणियों को अवश्य मान्य थे, परन्तु अवतार के रूप में अमान्य थे। उन्होंने रामनाम और सत्यनाम को एक कहा और रामलोक के स्थान पर सत्यलोक की प्रतिष्ठा की। निर्गुणियों में कई पन्थ इसी निर्गुण परब्रह्मतम को मानते हैं। राम के विषय में यह धारणा समाज के नीचे वर्गों में फैली। उच्च वर्णों में सगुण विष्णु के अवतार राम की उपासना चलती रही। तुलसीदास ने रामचरितमानस के द्वारा सगुण रामोपासना को महत्त्व दिया और यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके द्वारा सारे उत्तर भारत, मध्य भारत और कुछ दक्षिण (महाराष्ट्र) में भी रामोपासना का प्रचार हो गया। निर्गुण संतों की राम विषयक धारणा पर भी राम का प्रभाव पड़ा और राम की सगुण भावना को भी स्थान मिलने लगा।

राम-काव्य

राम-काव्य का सम्बन्ध मुख्यतः पूर्वी प्रदेश से है। पूर्वी प्रदेश के समस्त आन्दोलनों में धार्मिक सुधार के मूल में समाज-सुधार की भावना सन्निहित रहती थी और वे लोक-संग्रह को ध्यान में रख कर चलते थे। तुलसी का काव्य इन आन्दोलनों का उत्तराधिकारी है। हम देख चुके हैं कि मध्ययुग में इस प्रदेश में राम-भक्ति की प्रतिष्ठा रामानन्द ने की थी परन्तु शीघ्र ही उनके सगुण राम को सन्तों ने निर्गुण राम का रूप दे दिया और साहित्य में यही रूप अधिक दृष्टिगोचर हुआ। परन्तु सगुण रामचरित्र की महत्ता वरावर स्थापित रही, भले ही साहित्य में उसके चित्र न मिलते हों।

रामचरित्र को हिन्दी में उपस्थित करनेवाला सबसे प्रथम कवि भूपति है। यह राम-कथा[1] दोहा-चौपाई में ही है और १२८९ ई० में लिखी गई है। इसके बाद सं० १६४२ (१५८५) में मुनिलाल ने भी राम-कथा पर एक रचना उपस्थित की। इस कवि ने राम-कथा को रीति-शास्त्र के अनुसार लिखा। सम्भव है अन्य अनेक ग्रन्थ भी राम कथा पर लिखे गए हों। तुलसीदास की रामायण में इस प्रकार का संकेत मिलता है। यह स्पष्ट है कि तुलसी पहले राम-कवि नहीं थे, वे एक परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी थे।

राम-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं जिन्होंने १५७४ ई० में राम-कथा (रामचरितमानस) को प्रकाशित किया। विष्णु के एक अवतार के रूप में राम की उपासना बहुत प्राचीन काल से चली आती थी। समय-समय पर अनेक राम-भक्ति ग्रन्थ लिखे गये जिनमें अनेक प्रकार से रामकथा कही गई। इन्होंने राम-भक्ति को उत्तेजना दी और राम के अवतारी सगुण रूप की महत्ता को सिद्ध किया। परन्तु ये सब ग्रन्थ जो रामायणों के नाम से प्रसिद्ध थे

१—खोज रिपोर्ट १९०६, १९०७, १९०८ (रामचरित रामायण)

संस्कृत में थे और मध्ययुग तक आते-आते वे केवल पंडितों के अध्ययन-अध्यापन की वस्तु रह गये थे। साधारण जनता की धार्मिक भावना उनके आश्रय पर नहीं चल रही थी। यह आवश्यकता थी कि तत्कालीन भाषा में ही राम-कथा कही जाय जिससे उसकी पहुँच साधारण जनता तक हो और शताब्दियों से वहता हुआ राम-भक्ति का स्रोत सूख न जाय। तुलसी ने इस आवश्यकता को समझा और उस समय की हिन्दी की बोलियों में से राम के जन्म-स्थान अवध की ही बोली अवधी को चुना। उनके ग्रन्थ को लोकप्रियता मिली और राम-भक्ति का रुद्ध स्रोत और भी तीव्र गति से बहने लगा। रामानन्द ने राम के सगुण रूप को ही चिन्त्य और उपास्य माना था परन्तु उनके शिष्यों, विशेषतः कबीर ने राम के निर्गुण रूप का प्रचार किया। यह परम्परा के विरुद्ध था और इसने राम की सगुणोपासना को धक्का पहुँचाया। यदि गोस्वामीजी ने राम के सगुण रूप की पुनर्स्थापना न की होती तो आज तीन सौ वर्ष बाद कदाचित् धर्मक्षेत्र से राम-भक्ति का लोप हो गया होता। गोस्वामीजी ने निर्गुणियों का विरोध किया परन्तु निर्गुण सन्तों ने राम के स्थान पर नाम की महत्ता की स्थापना कर दी थी उसे तुलसी ने अपनी राम-भक्ति में स्थान दिया। उन्होंने नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहा और उसे इन दोनों से परे बतलाया। दार्शनिक परिभाषा की दृष्टि से गोस्वामीजी के राम परब्रह्म हैं, जिस प्रकार सूरदास के कृष्ण परब्रह्म हैं, परन्तु तुलसी ने अपने राम और दाशरथि राम में भेद नहीं किया है। तुलसी की इस नई योजना ने सन्तों की रामभावना को आत्मसात कर और जनभाषा को अपने राम का माध्यम बना कर सगुण राम-भक्ति का उद्धार किया।

भक्ति के क्षेत्र में तुलसी की महत्ता यह है कि उन्होंने योग संत-मत और सूफीमत की उपेक्षा की और भक्ति के अन्य वेद-विहित मार्गों में सामंजस्य विठाने की चेष्टा की। उन्होंने रामचरितमानस

पक्ष का भी ध्यान रखा है। इसीसे उनकी शृङ्गार-योजना मर्यादा के भीतर हुई है और अपने प्रस्तुत विधान के लिये उन्होंने नीति और धर्म के क्षेत्रों से सामग्री चुनी है।

गोस्वामीजी की एक विशेषता उनकी भाषा है। साधारणतः उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृत तत्सम शब्दों से पुष्ट किया है परन्तु वे रसानुकूल और पात्रानुकूल भाषा लिखने का सदा ध्यान रखते हैं। स्त्री-पात्रों के सम्वादों में उन्होंने ठेठ भाषा का सुन्दर प्रयोग किया है और इस स्थल पर हम यह भी देख सकते हैं कि उनकी भाषा पात्रों की सामाजिक स्थिति ही नहीं, उनके मनस्तत्त्व को भी आधार बनाकर चलती है।

रामचरितमानस के बाद तुलसी का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विनयपत्रिका है, जिसमें तुलसी की प्रौढ़ावस्था के अध्यात्म जगत का सुन्दर चित्र मिलता है। अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यंजना की प्रौढ़ता और गीतात्मकता की दृष्टि से विनयपत्रिका रामचरितमानस से भी उच्च स्थान रखती है। संसार के धर्म-साहित्य में उसकी जोड़ का काव्य मिलना कठिन है।

इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त तुलसी के जो अन्य ग्यारह प्रामाणिक ग्रन्थ हैं उनमें भी कवि की अनेकांगी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इनमें नहछू और वैराग्य संदीपिनी प्रारम्भिक रचनायें होने के कारण अत्यन्त प्रौढ़ नहीं हैं। कवितावली और बाहुक में हमें गोस्वामीजी के अन्तिम काल की रचनायें मिल जाती हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि मृत्युशैया तक उनकी कवित्व-शक्ति में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं आया। जैसा हम अभी लिख चुके हैं, जानकीमंगल और पार्वतीमंगल खंडकाव्य हैं और उनका विषय क्रमशः रामविवाह और शिवविवाह है। नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और मानस के कुछ स्थल गोस्वामीजी के नारी जगत के अध्ययन, विशेषकर लोकाचारों के अध्ययन पर प्रकाश डालते हैं। नहछू और बरवै में उन्होंने अपनी सौन्दर्य-वृत्ति और कला-

प्रियता का परिचय दिया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सतसई और दोहावली में भी गोस्वामीजी की राम-भक्ति और काव्यकला के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं इस काव्यकला ने चमत्कार का रूप धारण कर लिया है परन्तु ऐसा बहुत कम हो पाया है। गोस्वामीजी के दो अन्य ग्रन्थों गीतावली और कृष्णगीतावली पर सूरदास का प्रभाव लक्षित है, विशेषकर बालवर्णन में, परन्तु यहाँ भी वे नवीन उद्भावनायें उपस्थित करने से नहीं चूकते।

हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने दो भाषाओं (अवधी और ब्रजभाषा) का इतना सुन्दर प्रयोग किया हो और अपने समय की सभी शैलियों (छप्पय, गीति या पद, कवित्त या सवैया, दोहा, चौपाई-दोहा) में रचना की हो, फिर रस-निरूपण, चरित्र-चित्रण घटना-संघटन, प्रवन्धात्मकता और गीतात्मकता को काव्यकला से पुष्ट करते हुए लोकपक्ष का ध्यान रखना और सफलतापूर्वक एक नया धर्म-सन्देश देना तो बहुत दूर की बात है।

अग्रदास (आ० का० १५७५)—यह अष्टछाप के श्री कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। इन्होंने पाँच ग्रन्थ लिखे जिनमें से दो हितोपदेश, उपाख्यान-बावनी (कुंडलिया रामायण) और ध्यान-मंजरी प्रसिद्ध हैं। कुंडलिया रामायण अधिक प्रसिद्ध है परन्तु यह नाम भ्रमात्मक है, क्योंकि कुंडलियों का विषय रामचरित्र नहीं, केवल नीति ही है। यह राम-भक्त थे। ध्यान-मंजरी में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सरयू और अयोध्या के सौन्दर्य का 'ध्यान' वर्णन किया गया है।

नाभादास (आ० का० १६००)—अग्रदास के शिष्य नारायणदास (डोम) ही इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ये राम-भक्त थे और राम-भक्ति के सम्बन्ध में इनके बहुत से पद मिलते हैं। परन्तु नाभादास की प्रसिद्धि का मुख्य कारण भक्तमाल है जिसमें छप्पय छन्द में लगभग २०० भक्तों का परिचय दिया गया है। मध्ययुग

में अवतारों आदि की भक्ति के साथ भक्तों की भक्ति भी प्रचलित होने लगी थी। नाभादास के भक्तमाल और ८४ तथा २५२ वार्ताओं ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया। नाभादास के भक्तमाल पर बहुत-सी टीकाएँ और उपटीकाएं लिखी गईं जो इसी प्रकृति की द्योतक हैं।

प्राणचन्द चौहान (१६१० के लगभग)—इन्होंने सम्वाद (कथनोपकथन) के रूप में राम-कथा की रचना की और उसका नाम रामायण महानाटक रखा।

हृदयराम—सन् १५३३ में इन्होंने संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर इसी नाम से एक रचना कवित्त और सवैयों में की।

लालदास (१६४३)—इन्होंने रामचरित पर अवध-विलास नाम का एक ग्रन्थ लिखा।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि तुलसीदास के बाद राम-काव्य की परंपरा बराबर चलती रही, परन्तु उसमें कोई प्रतिभाशाली कवि नहीं हुआ और न आधुनिक काल के आरंभ तक इस परंपरा में किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। कदाचित् रामभक्ति में भावनाओं के विस्तार और वैयक्तिक अनुभूति के लिए अधिक स्थान नहीं था। कृष्ण-कथा की अपेक्षा राम-कथा की भित्ति अधिक दृढ़ थी और वह ऐतिहासिक और मर्यादित होने के कारण राम को उस वैयक्तिक अनुभूति के साथ ग्रहण करना असंभव था जिस अनुभूति को हम मीरा में पाते हैं। फलतः राम-भक्ति-काव्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ तुलसी की रचनाएँ ही हैं, अन्य कवियों और भक्तों ने हमें बहुत अधिक नहीं दिया है।

(ख) कृष्ण-काव्य-धारा

ऋगवेद संहिता में श्रीकृष्ण का नाम स्थलों में आया है। एक स्थल पर वह कई सूक्तों के रचयिता हैं। दूसरे स्थल पर वह एक अनार्य गोपालक सामन्त हैं। जब इन्द्र उनकी गायें चुरा ले जाते हैं तो वह अपने गढ़ से निकल-कर उनसे युद्ध करते हैं और उन्हें पराजित करते हैं। सूक्तों के रचयिता कृष्ण ऋषि हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता के उपदेशक कृष्ण और गोपाल कृष्ण का बीज-रूप वेदों में ही मिल जाता है। पुराणों और भागवत में पूजा के लिए इन्द्र और कृष्ण की जिस प्रतियोगिता का वर्णन है उसका मूल भी कदाचित् इन्द्र-कृष्ण का यही युद्ध है। यजुर्वेद संहिता में कृष्णकेशी नामक असुर को मारनेवाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक कृष्ण के उल्लेख हैं जिन्हें ऋषि घोर अंगिरस का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। यह ऐतिहासिक पुरुष समझे जाते हैं। यह द्वारिका के राजा थे और इन्होंने महाभारत में

कृष्ण

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि तुलसीदास के बाद राम-काव्य की परंपरा बराबर चलती रही, परन्तु उसमें कोई प्रतिभाशाली कवि नहीं हुआ और न आधुनिक काल के आरंभ तक इस परंपरा में किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। कदाचित् रामभक्ति में भावनाओं के विस्तार और वैयक्तिक अनुभूति के लिए अधिक स्थान नहीं था। कृष्ण-कथा की अपेक्षा राम-कथा की भित्ति अधिक दृढ़ थी और वह ऐतिहासिक और मर्यादित होने के कारण राम को उस वैयक्तिक अनुभूति के साथ ग्रहण करना असंभव था जिस अनुभूति को हम मीरा में पाते हैं। फलतः राम-भक्ति-काव्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ तुलसी की रचनाएँ ही हैं, अन्य कवियों और भक्तों ने हमें बहुत अधिक नहीं दिया है।

(ख) कृष्ण-काव्य-धारा

ऋगवेद संहिता में श्रीकृष्ण का नाम स्थलों में आया है। एक स्थल पर वह कई सूक्तों के रचयिता हैं। दूसरे स्थल पर वह एक अनार्य गोपालक सामन्त हैं। जब इन्द्र उनकी गायें चुरा ले जाते हैं तो वह अपने गढ़ से निकलकर उनसे युद्ध करते हैं और उन्हें पराजित करते हैं। सूक्तों के रचयिता कृष्ण ऋषि हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता के उपदेशक कृष्ण और गोपाल कृष्ण का बीज-रूप वेदों में ही मिल जाता है। पुराणों और भागवत में पूजा के लिए इन्द्र और कृष्ण की जिस प्रतियोगिता का वर्णन है उसका मूल भी कदाचित् इन्द्र-कृष्ण का यही युद्ध है। यजुर्वेद संहिता में कृष्णकेशी नामक असुर को मारनेवाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक कृष्ण के उल्लेख हैं जिन्हें ऋषि घोर अंगिरस का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। यह ऐतिहासिक पुरुष समझे जाते हैं। यह द्वारिका के राजा थे और इन्होंने महाभारत में

कृष्ण

वालकृष्ण की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली शताब्दी के कुछ पूर्व दक्षिण-पश्चिम प्रदेश में आभीर जाति का उत्थान हुआ था। इसने राजशक्ति भी प्राप्ति की थी। मथुरा और द्वारिका इसके केन्द्र थे। इसी जाति में एक वाल देवता की उपासना होती थी। सम्भव है उसका नाम भी कृष्ण रहा हो। महाभारत के कृष्ण से इस वालकृष्ण का योग विठाया गया और इस प्रकार कृष्ण के मध्य युगीय रूप का निर्माण हुआ। पहली शताब्दी के लगभग प्राकृत भाषा में जो काव्य-रचना हुई उसमें आभीर जाति की शृङ्गार-कथाओं का वर्णन है। अनेक गाथा-छन्दों में गोप-गोपियों का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि आभीर जाति अत्यन्त रसिक थी। सम्भव है इसीके प्रभाव के कारण व्रज-प्रदेश के लोक-गीतों और कृष्ण के भक्ति-पदों में गोपियों की लीला और राधा को स्थान मिल गया। गाथा सप्तशती में राधा शब्द प्रथम वार पाया जाता है जो इस वात की पुष्टि करता है। इसी समय के लगभग भागवत धर्म का पुनरुत्थान हुआ और उसमें कृष्ण के इस नये परिवर्धित रूप को स्वीकार कर लिया गया।

राधा

राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नहीं है। वह दार्शनिकों, धर्म-ग्रन्थों और कवियों की सूझ है। उसके व्यक्तित्व का निरन्तर विकास होता गया है, यहाँ तक कि हमें सूरदास के काव्य में उसका एक पूर्ण चित्र मिल जाता है। सूरदास के समय से अब तक राधा के चरित्र में कोई विकास नहीं हुआ है।

महाभारत में कृष्ण के जीवन का पहला पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। परन्तु इसमें गोप-लीला का अभाव है। महाभारत में न गोपियाँ हैं न राधा। गोपलीला का परिचय हमें पहली वार श्रीमद्-भागवत में मिलता है, परन्तु कृष्ण की प्रेम-लीला में भाग लेनेवाली असंख्य गोपियों में राधा कहीं नहीं है। सारे भागवत में कहीं उसका नाम भी नहीं आया है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कृष्ण की एक

विशेष भाग लिया। इन्हें वृष्णियों का नायक राजपुत्र कृष्ण भी कहा जा सकता है। वैदिक कृष्ण और उपनिषद् के ऋषि कृष्ण से इनका योग हुआ और कदाचित् इस प्रकार महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि प्रभृति वैयाकरणों के ग्रन्थों में "वासुदेवक" सरीखे शब्द और कंस वध सरीखी लीलाओं का उल्लेख है। साथ ही "भिरहते कंसे" "जघान कंस किल वासुदेव." सरीखे वाक्यों में "चिर" और "किल" के प्रयोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण का आविर्भाव-काल उन वैयाकरणी महोदयों से बहुत पहले का है।" पतंजलि को समय में वासुदेव धर्म के पुनुरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को परम भागवत मान लिया गया और उन्हें वैदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

कनेड़ी ने कृष्ण के विकास के तीन भाग किये हैं। उन्होंने उन्हें द्वारिका का राजा कृष्ण माना है जो महाभारत में अपने धूर्त कृत्यों के लिए प्रसिद्ध हैं। यह कृष्ण का राजनीतिज्ञ रूप है। उन्होंने उन्हें सिंधु प्रदेश का अनार्य वीर योद्धा माना है जिसकी बहुत कुछ देवता के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। उन्होंने राक्षस, गंधर्व आदि व्याह किए थे। अंत में उन्होंने उन्हें मथुरा का बालकृष्ण भी माना है। महाभारत में बालकृष्ण का कोई परिचय नहीं मिलता। वहाँ कृष्ण वासुदेव, भागवत या परम देवता हैं। उनके द्वारा महाभारतकार ने अनेक उपासना-पद्धतियों के सामंजस्य की चेष्टा की है। महाभारतकार के समय में ज्ञान भक्ति और कर्म की तीन धारायें चल रही थीं। गीता में भगवान कृष्ण ने इन तीनों धाराओं को एक केंद्र पर लाने की चेष्टा की है। उन्होंने योग-प्राप्ति के अनेक ज्ञानमार्गों का वर्णन किया है परन्तु अंत में व्यवहार के लिए अनासक्त कर्म और आध्यात्म के लिए भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उन्होंने कहा है—सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। यही भक्ति का मूल मंत्र है।

बालकृष्ण की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली शताब्दी के कुछ पूर्व दक्षिण-पश्चिम प्रदेश में आभीर जाति का उत्थान हुआ था। इसने राजशक्ति भी प्राप्त की थी। मथुरा और द्वारिका इसके केन्द्र थे। इसी जाति में एक बाल देवता की उपासना होती थी। सम्भव है उसका नाम भी कृष्ण रहा हो। महाभारत के कृष्ण से इस बालकृष्ण का योग बिठाया गया और इस प्रकार कृष्ण के मध्य युगीय रूप का निर्माण हुआ। पहली शताब्दी के लगभग प्राकृत भाषा में जो काव्य-रचना हुई उसमें आभीर जाति की शृङ्गार-कथाओं का वर्णन है। अनेक गाथा-छन्दों में गोप-गोपियों का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि आभीर जाति अत्यन्त रसिक थी। सम्भव है इसीके प्रभाव के कारण व्रज-प्रदेश के लोक-गीतों और कृष्ण के भक्ति-पदों में गोपियों की लीला और राधा को स्थान मिल गया। गाथा सप्तशती में राधा शब्द प्रथम बार पाया जाता है जो इस बात की पुष्टि करता है। इसी समय के लगभग भागवत धर्म का पुनरुत्थान हुआ और उसमें कृष्ण के इस नये परिवर्धित रूप को स्वीकार कर लिया गया।

राधा

राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नहीं है। वह दार्शनिकों, धर्म-ग्रन्थों और कवियों की सूझ है। उसके व्यक्तित्व का निरन्तर विकास होता गया है, यहाँ तक कि हमें सूरदास के काव्य में उसका एक पूर्ण चित्र मिल जाता है। सूरदास के समय से अब तक राधा के चरित्र में कोई विकास नहीं हुआ है।

महाभारत में कृष्ण के जीवन का पहला पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। परन्तु इसमें गोप-लीला का अभाव है। महाभारत में न गोपियाँ हैं न राधा। गोपलीला का परिचय हमें पहली बार श्रीमद्-भागवत में मिलता है, परन्तु कृष्ण की प्रेम-लीला में भाग लेनेवाली असंख्य गोपियों में राधा कहीं नहीं है। सारे भागवत में कहीं उसका नाम भी नहीं आया है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कृष्ण की एक

विशेष प्रिय गोपिका का उल्लेख है। इस गोपी ने पूर्व जन्म में कृष्ण की आराधना की थी। उसके विशेष प्रिय होने का कारण भी यही है। सम्भव है कि इसी बात से बाद में राधा नाम की एक विशेष गोपी की कल्पना की गई हो जो कृष्ण को विशेष प्रकार से प्रसन्न करती है।[1] हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण में भी राधा के चिन्ह नहीं मिलते। ईसा की दूसरी शताब्दी में लिखे गये भास के नाटकों में भी राधा का नाम नहीं आया है[2], परन्तु खोज द्वारा पता चलता है कि राधा की कल्पना पहली शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व-काल में हो चुकी थी। संस्कृत ग्रन्थों में राधा का पहला परिचय दसवीं शताब्दी में मिलता है, परन्तु देशी भाषाओं में राधा का उल्लेख इससे पूर्व आ जाने के कारण उनका इतना महत्त्व नहीं रह जाता। देशी भाषा लोक-भावना के अधिक निकट थी। अनुमान यह होता है कि राधा के सम्बन्ध में जन-गीत प्रचलित रहे होंगे। देशी भाषा के कवियों ने अपने काव्य में उनके प्रभाव को ग्रहण किया। दसवीं शताब्दी के लगभग जब कृष्ण के लिए उनकी शक्ति के नारी-रूप-

---

१ राधा शब्द संस्कृत धातु राध से बना है जिसका अर्थ है सेवा करना अथवा प्रसन्न करना।

२ कृष्ण की बाललीला-सम्बन्धी एक नाटक बालचरित्र है। उसके अन्य नाटक दूत वाक्य और दूत घटोत्कच हैं। भास के नाटकों के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें ईसापूर्व का रचा हुआ समझते हैं। अन्य विद्वान् उन्हें तीसरी शताब्दी के अंत अथवा चौथी शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ स्वीकार करते हैं। हमने उनका निर्माणकाल बीच का मान लिया है। विशेष परिचय के लिए देखिए जैसवाल और स्टेनकोनों की खोजें और विन्टरनीज़ का ग्रन्थ—Some problems of Indian literature, Page 135.

कल्पना की आवश्यकता पड़ी तो धर्म-व्यवस्थापकों ने जन-समाज में प्रचलित और कृष्ण से सम्बन्धित राधा को कृष्ण की पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया। भाषाकाव्य में सबसे पहले राधा शब्द प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' में पाया जाता है जिसका निर्माणकाल विक्रम सम्वत् के आविर्भाव-काल के निकट है। इससे कुछ ही समय बाद के ग्रन्थ 'पंचतंत्र' में इसी राधा का नाम आता है।

धर्म-ग्रन्थों में राधा का पहला विशद चित्र ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में मिलता है जो भागवत के बाद का ग्रन्थ है।[1] इसके कुछ ही समय बाद निम्बार्क और जयदेव का काल आता है। निम्बार्क ने राधा को कृष्ण की मूल प्रकृति कहा है।[2] जयदेव के ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' में राधा का जो केलि-विलासमय चित्र उपस्थित हुआ है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में राधा की प्रतिष्ठा परमशक्ति के रूप में हो चुकी थी[3]। इस समय तक राधा का कृष्ण की बाल-लीला के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया था। इससे पहले राधा को वैष्णव धर्म की उपासना पद्धति में स्थान नहीं मिला[4] था। काव्य में अवश्य राधा का प्रचलन हो गया था। जयदेव के कुछ ही परवर्ती आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में दो श्लोक राधा के सम्बन्ध में मिलते हैं।

---

१ दसवीं शताब्दी के लगभग।

२ अंगे तु वामें वृषभानुजांमुदा।
विराजमानामनुरूप सौभगाम्॥
सखी सहस्रै परिसेवितां सदा।
स्मरेम् देवीम् सकलेष्ट कामदाम्। दश श्लोकी (स्तोत्र)

३ जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी है।

४ निम्बार्क के पहले भागवत पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परन्तु इसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को ही स्थान दिया गया है।

इस प्रकार हम चौदहवीं शताब्दी में पहुँचते हैं। इस समय भागवत सम्प्रदाय का नये रूप से विकास हुआ। आचार्यों ने कृष्ण के साथ राधा की उपासना को भी मान्य समझा। कवियों एवं भक्तों ने राधा-कृष्ण का सम्बन्ध पूर्णतः जोड़ दिया। इस समय के 'गोपाल तापनी उपनिषद' में राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसी के रूप में हुआ है।

अगली शताब्दी में राधा-कृष्ण का काव्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है। विद्यापति और उनसे कुछ पहिले उमापति ने राधा-कृष्ण की शृङ्गारिक लीलाओं को अपने गीत-काव्य का विषय बनाया। यह मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग की बात है। अधिक पूर्व बंगाल में इसी समय चंडीदास ने कृष्ण-काव्य की रचना की।

दक्षिण-पश्चिमी भारत में भी राधा-कृष्ण का चरित्र काव्य का विषय बना। गुजरात में नरसी मेहता ने राधा-कृष्ण विषयक रचनायें उपस्थित कीं। मीराबाई ने राजस्थान में मधुर भाव से कृष्ण की उपासना की। उनकी कविता में वे स्वयम् राधा-रूप से उपस्थित हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनके विषय में जो रचनायें की गई उनसे यह भी स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण का सम्बन्ध गोपियों के सम्बन्ध के बाद हुआ जब कि दोनों तरुण हो चुके थे। बाल लीला और तरुण कृष्ण की प्रेम-लीला में सम्बंध अगली शताब्दी में सूरदास ने जोड़ा। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पश्चिम में राधा-कृष्ण का रूप धार्मिक अधिक था। वह भक्ति और उपासना का विषय बनाया गया था। परन्तु पूर्व में उसके काव्यात्मक अंग अधिक विकसित हुए थे। सम्भव है कि इसका कारण यह हो कि राधा की उपासना पहले भागवत पुराण के आधार पर वृन्दावन में आरम्भ हुई[1] और वहीं से वह बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची। बंगाल में पहुँचते-पहुँचते

---

[1] फ़क़ुहर के मतानुसार ११०० ई० शताब्दी के लगभग

उसमें उपासना-भाव से अधिक काव्य और रस की प्रतिष्ठा हो गई। महाराष्ट्र के ब्रज से निकट होने के कारण उसमें उपासना का भाव अधिक रहा।

तत्पश्चात् चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। यह दोनों अपने पूर्ववर्ती कवियों तथा आचार्यों से प्रभावित हुए। वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी से प्रभावित होकर राधा की उपासना की प्रतिष्ठा की। उन्होंने बालकृष्ण को अपना उपास्यदेव माना और नवनीत प्रिया के नाम से उनकी स्थापना की। उनके सम्प्रदाय में राधा नवनीत प्रिया हो गईं। इस प्रकार कृष्ण की बाल-लीला एवं तरुण प्रेम-लीला के सामंजस्य उत्पन्न करने का अवसर उपस्थित हुआ। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रसंग पर अपनी कल्पना का प्रकाश डाला और किशोर-किशोरी की प्रथम भेंट से लेकर कुरुक्षेत्र से लौटने पर कृष्ण द्वारा राधा को पत्नी-रूप में स्वीकार करने की कथा तक एक पूर्ण विकसित जीवन-चरित्र उपस्थित किया। चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने सम्प्रदाय में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। राधा के महाभाव को प्राप्त करना भक्त का सर्वोत्तम लक्ष्य था।

परवर्ती काल में राधा को लेकर भक्ति-मार्ग में अनेक दोष आ गये। एक मत राधा को ही अन्यतम उपास्य मान कर उठ खड़ा हुआ[1]। बंगाल में शक्ति-पूजा तथा तंत्रवाद ने राधा की भक्ति को विशेष रूप से कलुषित किया[2]। स्वयं वल्लभ-सम्प्रदाय में वल्लभाचार्य की मृत्यु के उपरान्त विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय में राधा को विशेष स्थान दिया और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में भी उनकी प्रतिष्ठा की।

---

[1] राधा-स्वामी मत

[2] बंगाल में प्रचलित सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय की धारणाओं से इस बात की पुष्टि होती है। बंगाल में परकीया रूप से राधा की उपासना भी प्रचलित है।

राम-काव्य की तरह कृष्ण-काव्य की परम्परा भी चली आती थी। राम में देवता की साधना कृष्ण में इसी तरह की साधना के साथ ही हुई थी परन्तु वाल्मीकि के राम इतने शीघ्र लोकप्रिय नहीं हुए जितने शीघ्र कृष्ण। श्रीमद्भागवत् की रचना में कृष्ण-भक्ति को एक ऐसा आकर्षक रूप दिया कि शीघ्र ही उसके साहित्य की एक परम्परा चल पड़ी। १२वीं शताब्दी में जयदेव ने गीतगोविन्द लिखा और फिर उससे प्रभावित होकर विपसी के मैथिल पं० विद्यापति ठाकुर ने १५वीं शताब्दी के पदों में रचना की। उनके समकालीन उमापति ने भी कृष्ण-साहित्य का निर्माण किया। उनका एक मणिपरिणय नाटक प्रसिद्ध है। ये कवि राजाश्रय में रहते थे। इसलिए इनका काव्य भक्ति की भित्ति पर खड़ा होते हुए भी लौकिक प्रेम-गीतों और राजाश्रय के वातावरण से ही अधिक प्रभावित दिखलाई पड़ता है। बंगाल में यह धारा १४वीं शताब्दी के आरम्भ में ही दीख पड़ती है यद्यपि चण्डीदास के आविर्भाव के समय तक इसने विशेष बल प्राप्त नहीं किया।

हिन्दी में कृष्ण विषयक सबसे प्रथम पद रचना गुजराती कवि नरसिंह मेहता (१४५०—१४८०) की मिलती कही जाती है। फिर मीरा का नाम आता है। मीरा के कृष्ण कुछ इसी तरह के सगुण ब्रह्म थे जैसे तुलसी के राम अथवा दूसरे शब्दों में भक्ति का निरूपण करते हुए मीरा ने निर्गुण परब्रह्म का ही सगुण ढंग से ध्यान और गुणगान किया। उनपर सूफी धर्म की हाल आदि परिस्थितियों और प्रेममार्गी संतों का भी प्रभाव पड़ा है। संतों के पारिभाषिक शब्द उन्होंने नये संदर्भ में प्रयुक्त किये हैं। मीरा का अधिक काव्य तो राजस्थानी में ही लिखा गया होगा परन्तु गेय होने के कारण हमें ब्रजभाषा और गुजराती रूपों में भी प्राप्त है। मौखिक प्रणाली ने इसमें भाषा विषयक परिवर्तन कर दिये और आज मीरा के पद हिन्दवी, ब्रज, गुजराती और राजस्थानी (पंजाबी का पुट लिये)

में पाये जाते हैं। यह भी सम्भव है कि उस काल की भाषा का रूप ही अनिश्चित हो।

ब्रजभाषा को साहित्यिक महत्ता उस समय से मिली जब वल्लभाचार्य ने गोवर्धन में कृष्ण-मूर्ति की स्थापना की और उसे केन्द्र बना कर पुष्टि-मार्ग का प्रचार करना आरम्भ किया। यह १५०० के लगभग की बात है। उन्होंने स्वयं तो हिन्दी में कुछ नहीं लिखा परन्तु उनके शिष्यों ने हिंन्दी में पद-रचना की। फिर भी हमारे साहित्य में एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न करने और उसे एक नई भाषा देने का श्रेय श्री वल्लभाचार्य को ही है। उनकी मृत्यु (१५३१) के पश्चात् उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने उनका स्थान ग्रहण किया। ये स्वयं ब्रजभाषा में रचना करते थे परन्तु इनका अधिक महत्त्व उस अष्टछाप के कारण है जिसके ये जन्मदाता थे। अपने पिता के चार कवि-शिष्य सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और अपने चार कवि-शिष्य चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, नन्ददास, गोविन्ददास को लेकर इन्होंने उन्हें एक नाम दिया और इस प्रकार एक नई संगठित काव्यधारा का सूत्रपात किया। इन कवियों की कविता इतनी उच्चकोटि की थी कि न केवल बाद का सारा कृष्ण-काव्य ही उनकी भाषा में लिखा गया, वरन् उनकी भाषा ३५० वर्ष तक सारे हिन्दी प्रदेश की काव्य-भाषा बनी रही।

इन अष्टछाप के कवियों में सर्वश्रेष्ठ सूरदास हैं। इनके बाद नन्ददास का नाम आता है। अन्य कवियों में कृष्णदास ही कुछ विशेष प्रतिभाशाली दिखलाई देते हैं। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस तरह की कवि-मंडली नहीं मिलेगी जिसमें कवि विशेष सिद्धान्तों को लेकर एक निर्दिष्ट दिशा में साथ वर्णन है। ऊपर के तीन कवियों की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ क्रमशः सूरसागर, रास पंचाध्यायी और प्रेम सत्व निरुपण हैं। यह सब पदों में है। इनके काव्य में उच्च कोटि की गीतात्मकता और कलापक्ष की प्रधानता है।

भावना की विभिन्नता के विचार से कृष्ण-साहित्य कई वर्गों में विभाजित हो सकता है।

(१) बालक-रूप में कृष्ण की भक्ति (वात्सल्य)। इसके प्रतिनिधि कवि सूर हैं।

(२) राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी के क्रिया-कलाप का वर्णन। इसमें गोपियों की क्रीड़ा आदि को भागवत के अनुसार रूपक-रूप में लेकर आत्मा-परमात्मा के प्रेम को चरितार्थ करने की भावना छिपी हुई है यद्यपि यह श्रृङ्गार की भावना से, जो मुग़लकालीन विलासिता के फलस्वरूप साहित्य में प्रवेश कर गई थी, बहुत दब गई है। भक्त राधा-कृष्ण की श्रृङ्गार-क्रियाओं को देख कर आनन्द लेता जान पड़ता है। इस तरह की भावना लगभग सभी कृष्ण-कवियों में मिलती है।

(३) कृष्ण के प्रति सख्य-भाव। चैतन्य सम्प्रदाय के कवि इसी भावना को लेकर आगे बढ़े हैं।

(४) राधा को प्रधान मान कर भक्ति करना। हित हरिवंश के साहित्य में इसी प्रकार की भावना रहती है।

(५) अपनेको राधा के स्थान पर रखकर कृष्ण के प्रति माधुर्य-भाव की उपासना इसी प्रकार की है।

कृष्ण को सगुण रूप में मानते हुये भी कुछ कवियों की प्रवृत्ति निर्गुण की ओर है। मीरा के काव्य में दोनों प्रकार की उपासना का मेल दिखलाई पड़ता है। सूर जहाँ एक ओर भ्रमरगीत में निर्गुण-मत-पोषक उद्धव को फटकारते हैं वहाँ सगुण ब्रह्म के पीछे की निर्गुण (सगुण-निर्गुण के परे अथवा पारब्रह्म) सत्ता की ओर संकेत करते चलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण-काव्य की नींव सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पड़ी। शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इसमें पर्याप्त विकास हुआ, कई दृष्टिकोण मिलने लगे और इनकी

विभिन्नता के कारण कई सम्प्रदाय हो गये। प्रत्येक सम्प्रदाय में कवि हुए और सम्प्रदाय के दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार कवि की कविता का भाव-पक्ष भी बदलता रहा। इसी कारण कृष्ण-काव्य में दृष्टिकोण का जितना वैभिन्न्य है वह राम-काव्य में नहीं। क्योंकि स्वयम् राम की भावना में अधिक वैभिन्न्य नहीं हुआ। मौलिक कृष्ण-भावना (श्रीमद्भागवत के कृष्ण) पर सूफी मत और निर्गुण मत का प्रभाव पड़ा। परन्तु राम-काव्य अथवा राम के लोक-संग्रही रूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कृष्ण का ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिशाली रूप जो महाभारत में सुरक्षित है अथवा पूर्ण ज्ञानी का रूप जो गीता में प्रतिष्ठित है कृष्ण-कवियों को आकर्षित नहीं कर सका। इसका कारण कदाचित् समय की रुचि, आवश्यकता और वातावरण का प्रभाव हो।

जो हो, साहित्य में कृष्ण-साहित्य का विशेष महत्त्व है। इतनी विविधता कदाचित् किसी भी साहित्यिक धारा में नहीं मिलेगी, जितनी कृष्ण-काव्यधारा में है; न काव्य और कला एवं संगीत का इस मात्रा में मिश्रण ही मिलेगा। केवल इसी साहित्य के बल पर हिन्दी का मस्तक अन्य साहित्यिकों के समक्ष सदा उन्नत रहेगा। इसके महत्त्व की एक बात यह भी है कि परवर्ती रीति-काल की लगभग सभी रूढ़ियाँ किसी न किसी प्रकार इस साहित्य से ही सम्बन्धित हैं। जिस शृङ्गार-भावना को रीतिकाल में प्रश्रय मिला, उसमें अंशतः कृष्ण-काव्य के नायक-नायिका राधा-कृष्ण को ही आलम्बन के रूप में स्वीकार किया गया था। यही नहीं, जहाँ स्पष्ट रूप से राधा-कृष्ण का उल्लेख भी नहीं है, वहाँ भी प्रच्छन्न रूप से वही प्रतिष्ठित है। कृष्ण काव्य के प्रभाव के कारण ही रीति-काव्य शतशः लौकिक नहीं बन गया और उसके शृङ्गार में स्थूल भोगलिप्सा के साथ अलौकिक नायक-नायिका की क्रीड़ा-केलि का सुन्दर पुट रहा, जिसके कारण उसे अध्यात्म-साधन का ही विषय बनाया जा सका।

सूरदास

कृष्ण-काव्य के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हैं। वे धार्मिक कवि हैं, अतः उनकी विचारधारा को हमें एक, धार्मिक दृष्टि-कोण से और दो, कवित्व की दृष्टि से देखना पड़ेगा।

सूर कवि पहले थे, धार्मिक पुरुषवाद में। इसीलिए धार्मिक उपदेश या तत्व-चिन्तन का उनकी रचना में अभाव है। उनकी कविता में साम्प्रदायिकता की भावना बहुत कम मिलती है। प्राचीन धर्म के प्रति उनकी आस्था भी तुलसी-जैसी नहीं है। सूर पुष्टिमार्गीय भक्त थे, परन्तु उनकी रचना में इसके सम्बन्ध में भी स्थूल रूप मे केवल सिद्धान्त भर मिलते हैं। पुष्टि-मार्ग के साथ श्रीमद्भागवतीय तथा पौराणिक भावना भी मिल जाती है।

पुष्टि-मार्ग के अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं और वे सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। इसीलिए ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति या जीव की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। त्रयी, दशावतार, जीव (विशिष्ट और साधारण दोनों) और प्रकृति—ये वास्तव में ब्रह्म के ही विशेष रूप हैं। पुष्टि-मार्ग के इस मूल सिद्धान्त की झलक हमें सूर में यत्र-तत्र कई स्थानों पर मिलती है। जल विहार, रासलीला और होली आदि लीलायें प्रकृति या माया के नित्य रूप हैं--नित्य का व्योहार हैं, वे क्रियायें हैं जो परब्रह्म के कुछ गुणों के तिरोभाव तथा आविर्भाव के साथ प्रतिदिन देखने में आती हैं। पुष्टि-मार्ग में मुक्ति के दो उपाय हैं--१. मर्यादा मार्ग (आत्म-साधना) निज के प्रयत्न तथा ज्ञान द्वारा ईश्वर (अक्षर) में लय हो जाना। २. पुष्टि-मार्ग--आत्म-साधना के द्वारा नहीं बल्कि आत्म-समर्पण के द्वारा कृष्ण (जो कि साक्षात् परब्रह्म हैं) से एकत्व प्राप्त करना। पहले में जीव की सत्ता नष्ट हो जाती है। दूसरे में ऐक्य होता है परन्तु सत्ता नष्ट नहीं होती। सूर ने भ्रमरगीतवाले अंश में कहीं-कहीं इसका स्पष्टीकरण भी किया है। सूर के काव्य पर पुष्टि-मार्ग की छाप अवश्य

है किन्तु न तो पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्त ही विस्तार में मिलते हैं, न मुक्ति-प्राप्ति के उपायों का विस्तृत विवेचन है।

ूरदास का कविवाला रूप प्रधान है। सूर की प्रतिभा एकांगी है। एक निश्चित मार्ग का अवलम्बन किया—केवल कृष्ण के में लिखना और वह भी केवल ब्रज-भाषा में एवं रस की दृष्टि से शृङ्गार (विनय पदों को छोड़ कर) रस को अपना विषय बनाया। क कि बाललीला में भी शृङ्गार का आरोप करना। उन्होंने र्ग की ओर ध्यान नहीं दिया। उनके काव्य में वास्तविक जीवन चत्रण है। उनके राधा-कृष्ण आदि प्रत्येक घर की वस्तु हैं। ा प्रेम साधारण स्त्री-पुरुष का प्रतिदिन का प्रेम है। जहाँ अलौकिकता है, वह कथा की परम्परा के कारण है। निष्कर्ष यह है कि सूर की अपनी प्रतिभा यथार्थवाद की ओर रही। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि भक्त-काल के कवियों में से विद्यापति को छोड़ कर काव्य-शास्त्र का जितना प्रभाव सूर पर है, उतना किसी अन्य कवि पर नहीं। उनके काव्य पर नायक-नायिका-भेद की छाप है और ऋतु-वर्णन, मान-लीला आदि प्रसंगों में काव्य-शास्त्र का ही सहारा लिया गया है।

सूरदास की कविता का विशेष गुण है उनका व्यभिचारी भावों का चित्रण। सूरदासजी की रचना कोई महाकाव्य नहीं है, अतः स्थाई भाव कम हैं। सामूहिक दृष्टि से तो अनेक पदों में मिला कर कोई रस कह सकते हैं, परन्तु वैसे प्रत्येक पद स्वतंत्र हैं। व्यभिचारी भावों का इतना अधिक चित्रण कवि की प्रतिभा का द्योतक है। सूरदास ने भक्ति सम्बन्धी पदों में भी काव्य-शास्त्र का सहारा लेकर मौलिकता दिखाई है। विनय पदों में एक ओर भक्त और दूसरी ओर भगवान आलम्बन हैं। हरि-गुण-वर्णन, संसार की असारता का वर्णन, तीर्थ, सन्त आदि उद्दीपन विभाव हैं। शान्ति लाभ देनेवाली प्रत्येक वस्तु उद्दीपन के अन्तर्गत है। तुलसी की विनयपत्रिका की तुलना करने

पर हम देखते हैं कि आलम्बन और उद्दीपन का विस्तृत वर्णन सूर में नहीं मिलता। भगवान् का तो कुछ वर्णन सूर ने किया भी है, भक्ति या सन्त-महिमा या तीर्थ का कोई वर्णन सूर ने नहीं किया। यद्यपि यह सूर की प्रारम्भिक रचना है परन्तु इसमें भी हमें काव्य-शास्त्र के अभाव का संकेत मिलता है। अनुभाव भी अधिक नहीं मिलते। हाँ, जो उत्कर्ष रूप में वर्णित मिलते हैं वे संचारी या व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण के लिये सूर के काव्य में निर्वेद, शंका और विषाद का सुन्दर चित्रण मिलता है। मन शांति की खोज में किन अवस्थाओं में होकर गुज़रना चाहता है, कवि इसका चित्रण करता है।

रस के परिपाक में जो वाह्याडम्बर हैं, जो साधारण उद्दीपन की भावना है, जो वाह्य सामग्री है, उसकी ओर कवि का ध्यान नहीं है। जहाँ महाकवि को स्थूल सामग्री पर ही ध्यान रखना चाहिये, वहाँ सूर और आगे बढ़ जाते हैं। उन्होंने भीत और हर्ष जैसे सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण किया है।

सूरदास के पदों में आलम्बनों का विस्तार नहीं मिलता। उनके वात्सल्य के आलम्बन कृष्ण और यशोदा हैं, संयोग-शृङ्गार के राधा गोपी और कृष्ण, वियोग-शृङ्गार के कृष्ण-यशोदा और राधा गोपियाँ कृष्ण। इनमें से किसीका भी स्वतंत्र रूप से चित्रण नहीं किया गया है। उद्दीपन तथा अनुभावों की हमें वहुत सामग्री मिलती है। उद्दीपन की सामग्री में कृष्ण के रूप-वर्णन की जो सामग्री है वह भी दो प्रकार की है--१ सख्य और वात्सल्य में जहाँ वाल तथा किशोर कृष्ण का वर्णन है। २--संयोग-वियोग-शृंगार में जब कृष्ण राधा और गोपियों से प्रेम करने लगे थे। रूप-वर्णन के साथ नख-शिख भी उद्दीपन का एक अंग है। सूरदास ने कृष्ण के नख-शिख का कम वर्णन किया है, राधा के नख-शिख का अधिक। वंशी और वंशी-ध्वनि भी उद्दीपन के अंग हैं। उद्धव का चरित्र उद्दीपन के अन्तर्गत आता है। प्राचीन काव्य में दूत और दूती उद्दीपन के अंग ही माने गये हैं। सूरदास के काव्य

में मधुकर, पाती, ऋतुओं और पक्षियों (मयूर, चातक, कोयल आदि) का वर्णन भी मिलता है। इनसे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री भी उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। सूरदास के पदों में कितने ही पद नेत्र-वर्णन के विषय में हैं। नेत्र-सम्बन्धी पद आंशिक रूप से उद्दीपन और आंशिक रूप से अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं। कृष्ण के नेत्रों का चित्रण उद्दीपन के लिए ही हुआ है। राधा, गोपियों और भक्त के नेत्र अनुभाव प्रगट करते हैं।

संयोग और वियोग-शृङ्गार की सामग्री भी कुछ अलग है। कृष्ण का रूप-वर्णन केवल संयोग-शृङ्गार के उद्दीपन के लिए हुआ है। ऋतु-वर्णन संयोग और वियोग दोनों अवसरों पर होता है। पाती, मधुकर, उद्धव, पक्षी आदि वियोग-शृङ्गार को ही पुष्ट करते हैं। अनुभाव का चित्रण विस्तार से नहीं किया गया है, यह प्रायः उद्दीपन के साथ मिश्रित करके वर्णित किया गया है। ऋतुओं के वर्णन के साथ उनका गोपियों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, यह भी वर्णित है। वास्तव में काव्य के आदर्श की दृष्टि से सूरदास का विरह-लीला-सम्बन्धी साहित्य बहुत उच्च है।

इस उद्दीपन और अनुभाव-चित्रण में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। अलौकिक लीलाएँ स्वाभाविक उद्दीपन या अनुभाव के चित्रों में बाधा डालती हैं। ऊखल में बँधे बालक का स्वाभाविक चित्र यमलार्जुन के गिर जाने से अस्वाभाविक हो जाता है। संयोग-लीला के चित्रों में आवश्यकता से अधिक शृंगार-प्रियता के कारण अस्वाभाविकता आ गई है। अतिशयोक्ति और सांग-रूपक का प्रयोग भी रस-ग्रहण करने में बाधा डालता है। व्यभिचारी-भाव का स्थान गौण है, परन्तु सूर ने उसे आवश्यकता से अधिक प्रधानता दे दी। सूर मन की अवस्थाओं के चित्रकार हैं। इसका एक कारण यह भी है कि वे कीर्तन के लिए पद-रचना करते थे।

सूर के काव्य का एक भाग ध्वनि-काव्य है। हमारा तात्पर्य भ्रमर

गीतवाले पदों से है जिनमें व्यंजना का प्रचुर प्रयोग हुआ है। साहित्य-पारखी जानते हैं कि सूरदास व्यंजना के प्रयोग में कितने सफल हुए हैं।

सूरदास का चरित्र-चित्रण विशद नहीं है। उनके चरित्रों में विकास नहीं मिलता। इसका एक कारण सूर की रचना का गीति-काव्य होना है। उन्होंने पृथक्-पृथक् अनुभूतियों और घटनाओं के ऊपर रचनायें की हैं। यदि सूर ने कृष्ण की सम्पूर्ण जीवनी लिखी होती तो चरित्र-चित्रण के लिए अधिक सामग्री मिल जाती। एक कारण यह भी है कि सूर ने कृष्ण-चरित्र का प्राय: पूर्वार्ध ही लिया है। उन्हें ब्रजवासी कृष्ण प्रिय हैं। वास्तव में कृष्ण के चरित्र का विकास वाल-जीवन के आगे ही होता है।

सूर-साहित्य पर अनेक प्रभाव दिखलाई पड़ते हैं। वाललीला पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव है जिसके कारण कृष्ण के चरित्र में अलौकिकता का समावेश हो गया है। वाललीला के प्रसंग में और राधा-कृष्ण के मधुर चित्रण पर पुष्टि-मार्ग की छाप है। पुष्टि-मार्ग में माधुर्य एवं वात्सल्य-भक्ति की प्रधानता है। पुष्टि-मार्ग के कर्मकांण्ड का प्रभाव भी सूरसागर के अनेक पदों में स्पष्ट है। वल्लभाचार्य के वाद विट्ठलनाथ के समय में अनेक कर्मकाण्ड वढ़ गये थे। होली आदि त्यौहारों पर मूर्ति सजाई जाती। सावन में रास-विलास होता। भोग, कीर्तन, पूजा-पाठ आदि का विशेष विधान था। इनमें से प्रत्येक पर सूरदास ने अनेक पद लिखे हैं। सूर-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट पदों पर लौकिक वाल-चरित्र की छाप है। कहीं-कहीं पूरे पद में सूर एक साधारण वालक का चित्रण करते गए हैं।

किन्तु अन्त में एक पंक्ति में वह यह स्मरण करा देते हैं कि यही असुर को मारने वाले कृष्ण हैं। इस प्रकार की वात वात्सल्य-रस में वाधक होती है, परन्तु यह सूर का अपना दृष्टि-कोण था। कभी-कभी सूरदास वाल-चित्रण में काव्य-शास्त्र से प्रभावित हो जाते हैं और

आलम्बन, उद्दीपन, विवाह आदि का वर्णन करने लगते हैं। प्रेम-लीला-सम्बन्धी पदों में यह प्रभाव अधिक है, वात्सल्य-सम्बन्धी पदों में कम। सूर-साहित्य का एक पहलू यह भी है कि वह धार्मिक रूपक है। कृष्ण साधारण नायक नहीं, परब्रह्म हैं। उसी प्रकार गोपियाँ दार्शनिक रूपक के अनुसार आत्मायें हैं या अधिक नहीं तो साधारण स्त्रियाँ तो नहीं हैं। इस धारणा के कारण स्पष्ट चित्रण में बाधा पड़ती है।

ऊपर हमने रस के विकास की दृष्टि से सूर-साहित्य की कुछ त्रुटियाँ दिखाई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य दोष भी हैं जैसे अलंकार के प्रचुर प्रयोग के कारण प्रसाद गुणों का अभाव, कल्पना की अधिकता के कारण भावों की भीड़ और संयोग-शृंगार के अश्लील अंश। ये सब त्रुटियाँ यह संकेत करती हैं कि कवि का झुकाव काव्य-शास्त्र की ओर अधिक था।

सूरदास के बाद अष्टछाप के कवियों में सबसे महत्त्वपूर्ण नन्ददास हैं। इनके अधिकांश ग्रन्थ खंड-काव्य के रूप में है। ये सब ग्रन्थ कृष्णलीला के सम्बन्ध में है। इन्होंने पदों का प्रयोग कम किया है। नन्ददास केवल भक्त ही नहीं थे, वे पंडित भी थे। संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन भी ऊँचा था और इन्होंने कुछ संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अनुवाद किया है। इनका शब्द-शक्ति का अध्ययन भी गम्भीर था। ये काव्य-शास्त्र के ज्ञाता भी थे, इनके रीति-ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। कृष्ण-कवियों में इतनी बहुमुखी प्रतिभा किसी में नहीं है, जितनी नन्ददास में है।

नन्ददास

कृष्ण-काव्य के दो कवियों सूरदास और नन्ददास में कवित्व धार्मिक सन्देश के ऊपर अधिकार प्राप्त किये है, परन्तु अन्य कवियों में भक्ति-भाव प्रधान है, कवित्व कम।

कृष्णदास पयाहारी[1] कृष्णदास के पदों में भी भक्ति-भावना अधिक है, कवित्व कम। इन्होंने अधिकतः युगल जोड़ी के संयोग-शृंगार का ही वर्णन किया है, विशेषकर मान का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—भ्रमरगीत और प्रेम-तत्व निपरूण।

परमानन्ददास[2] इनकी पुस्तकाकार रचनाएँ ध्रुवचरित्र, और दानलीला हैं। शेष पदों का एक बड़ा संग्रह है। इनमें भी भक्ति-भाव प्रधान है। इनके पद भक्त की तन्मयता को पूरा-पूरा प्रगट कर सके हैं।

कुम्भनदास[3] इनके केवल फुटकर पद मिलते हैं जिनमें कृष्ण की अनन्य भक्ति प्रगट की गई है। इनका दृष्टि-कोण इनके इस प्रसिद्ध पदसे स्पष्ट है—कुम्भन दासलाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम

चतुर्भुजदास ये कुम्भनदास के पुत्र थे। इनके ग्रन्थ हैं—द्वादशयश, भक्ति प्रताप और हितजू को मंगल। इनकी कविता पर सूरदास का स्पष्ट प्रभाव है परन्तु इन्होंने कृष्ण-चरित्र को आधार नहीं बनाया, केवल कृष्ण पर कविता की है।

छीत स्वामी[4] इनके केवल स्फुट पद प्राप्त होते हैं जो अत्यन्त उत्कृष्ट हैं और ब्रज-भूमि से इनका उत्कट प्रेम प्रगट करते हैं।

गोविन्द स्वामी[5] इनके भी केवल स्फुट पद मिलते हैं।

१—जन्म सं० १६००

२—समय सं० १६०० के आसपास

३—कविता-काल सं० १६०७ के लगभग

४—कविता काल सं० १६१२

५—वही

मीरा के पद गुजराती, डिंगल और ब्रज से मिलती-जुलती पश्चिमी हिन्दी में पाये जाते हैं। भाषा-वैभिन्न्य का कारण उनका मौखिक रूप से प्रचलित होना है। विषय की दृष्टि से भी एक समस्या उपस्थित हो जाती है। साधारणत. मीरा कृष्णोपासक मानी जाती हैं, परन्तु उनके पदों में सन्तों के उद्गार भी अनेक मिलते हैं। मोटे रूप से हम उनके काव्य को तीन भागों में रख सकते हैं--

मीरा

१--सन्तों की भावनावाले पद जिनमें चेतावनी और उद्देश्य प्रमुख हैं। इन पदों में मीरा स्वयम् एक गोपी हैं। उनमें न संचारी भावों का वर्णन मिलता है, न उद्दीपन और आलम्बन विभावों का। प्रेम-सम्बन्धी लगभग सभी पदों में अनुभावों का ही चित्रण है। जहाँ कृष्ण का चरित्र उपस्थित किया गया है, वहाँ भी अंग-प्रत्यंग का वर्णन नहीं किया गया है। जहाँ अन्य कृष्ण-कवि कृष्ण-कथा का आश्रय लेते हैं, वहाँ मीरा उसे बिलकुल भुला देती है। इसी कारण मीरा की कविता में कृष्ण का निश्चित व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका है। राम तथा गोविन्द को उपास्य कहा गया है और वैराग्य की भावना सविशेष है। इनकी शैली भी सन्तों के पदों-जैसी है। कुछ विनय के पद भी इसी शैली के हैं। २--सगुण भक्ति की भावनावाले पद। इनमें से अधिकांश कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी हैं। इन्हें विरह और प्रेम एवं सगुण विनय के शीर्षक से इकट्ठा किया जा सकता है। ३--जीवनी-सम्बन्धी पद। इनके अतिरिक्त होली, सावन, सोरठ और मिश्रित अंग हैं जिनमें सन्त-भावना के ही दर्शन होते हैं।

मीरा के पदों में काव्य-शास्त्र का प्रभाव अधिक नहीं है। इसलिये वे अधिक स्वाभाविक हैं, उनकी तन्मयता अभूतपूर्व है। यही कारण है कि उनमें भावनाओं का बड़ा स्पष्ट चित्रण हो सका है।

वास्तव में मीरा के काव्य में उनका समय अपरोक्ष रूप से हमारे सामने आ जाता है। मीरा का जीवन-काल १५००-१५५० ई० है और

रचना-काल सम्भवत: १५२०—१५५० ई०। उस समय संत-भावना पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पायी थी। इसीलिये कुछ परम्परा के कारण, कुछ इस कारण कि मीरा का प्रदेश (राजस्थान) सन्त-पन्थियों का केन्द्र था, कुछ उस युग की सहिष्णु और सामंजस्य-प्रधान प्रवृत्ति के कारण, मीरा के काव्य में संतों की विचार-धारा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी-किसी पद में गोरख सम्प्रदाय के सन्त-महात्माओं का प्रभाव भी स्मरण हो आता है। पश्चिमी हिन्दुस्तान में उनका भी बड़ा प्रभाव था।

भाषा की दृष्टि से भी यही बात है। मीरा की भाषा राजस्थानी रही होगी क्योंकि उनका अधिकांश जीवन राजस्थान में ही व्यतीत हुआ था, परन्तु उस समय व्रजभाषा साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो रही थी। अत: उसका प्रभाव भी लक्षित है। उस समय तक महाराष्ट्री राजस्थानी और व्रज में इतना अन्तर भी न पड़ा हो जितना आज है, यह भी सम्भव है। आज जिस रूप में उनके पद मिलते हैं, वह इस-लिये बहुत भिन्न हैं क्योंकि वह कई स्थानों से संग्रह किये गये जान पड़ते हैं और संग्रहकर्ता के स्थान की भाषा ने उन्हें प्रभावित किया है।

मीरा की भक्ति गोपियों की-सी है, परन्तु उनमें दासी-भावना की ही प्रधानता है। उनके शृंगार के पीछे भी अपूर्व शान्ति है। संभव है उन पर चैतन्य मतावलम्बी भक्तों का भी प्रभाव पड़ा हो। श्री आनन्द शंकर ध्रुव इस प्रभाव को मुख्य नहीं मानते। उनका कहना है—"हम मीरा का चैतन्य साधुओं के साथ समागम मानते हैं, किन्तु उनकी ज्वाला प्रगट करनेवाली शक्तियाँ हम जयदेव और रामानन्द की मानते हैं।"

सारा उत्तर-पश्चिमी भारत कृष्ण-भक्ति से प्रभावित हो रहा था।

भागवत का आदर किसी भी वेद-ग्रन्थ से कम न था। वास्तव में मध्ययुग के कृष्ण-भक्तों के लिए वही वेद था। इसीसे उसका आधार लेकर अनेक रचनायें हुईं। कृष्ण-भक्त कवियों ने दशम स्कन्ध के अनुवाद या उसके आधार पर रचे ग्रन्थ प्रस्तुत किये। राम-भक्त तुलसी ने भी राम एवं उनके चरित्र को पुष्ट करने तथा कथा, शैली आदि के लिये इसी ग्रन्थ की ओर मुड़कर देखा।

पृथ्वीराज

राजस्थान में कृष्ण-चरित्र का वीरत्व-शृंगारपूर्ण अंग अधिक प्रिय था। यद्यपि राजपूताने के अधिकांश राजा शैव थे, परन्तु इस समय कुछ ने वैयक्तिक रूप से भागवत धर्म को स्वीकार कर लिया था। महाराज पृथ्वीराज इन्हीं महानुभावों में से थे। यह बीकानेर नरेश राव कल्याणमल के पुत्र और महाराज कामसिंह के छोटे भाई थे। अकबर के दरबार से सम्बंधित भी थे। इन्होंने रुक्मणी की कथा को लेकर एक सुंदर पिंगल-काव्य की रचना की।[1] नाभादास ने भक्तमाल में इसके विषय में लिखा है—

सवैया, गीत, श्लोक, वेलि दोहा नव गुण रस।
पिंगल काव्य प्रमाण विविध विध गायो हरि जस॥
परि दुख विदुप श्लाध्य वचन रसनाजु उजारे।
अर्थ विचित्रित मोल सबै सागर उद्धारे॥
रुक्मिणी लता वर्णन अनुप वागीश वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुण प्रिथीराज कविराज, हुव॥

इस काव्य में रचना खंड-काव्य के रूप में हुई है और इस पर संस्कृत काव्यों और रीति-शास्त्र का गहरा प्रभाव है यद्यपि ग्रन्थ-फल-निर्देश में कवि का मत है—

---

[1] वेलिकिसन रुक्मणी री।

"उपजै अहोनिसि आप आपनै
रुक्मणि क्रिसन सरीख रति"[1]

भक्ति के सम्बन्ध में भी कवि का मत महत्त्वपूर्ण है—

"मधुकर रसिक सुभगति मंजरी, मुगति फूल फल भुगति निसि"

परन्तु ग्रन्थ-रचना करते समय कवि की दृष्टि लौकिकता और काव्य-शास्त्र की ओर ही अधिक रही है। "कवि ने कृष्ण के चरित्र को दैविक स्वरूप दिया है, परन्तु दूसरी ओर रुक्मणी को संसार के समस्त आडम्बरों से सजाकर बिलकुल लौकिक रूप दे दिया है।" उन्होंने रुक्मणी के शैशव, क्रमागत यौवनावस्था तक के विकासक्रम, पत्रिका, उद्दीपन, नख-शिख आदि कितने ही प्रसंगों में कालिदास आदि कवियों को अपना आदर्श बनाया है। यहाँ हमें प्रच्छन्न रूप से रीतिकाल के अंकुर मिल जाते हैं जो परवर्ती कृष्ण-काव्य में विकसित हुए।

कृष्ण-काव्य के परवर्ती कवियों ने कवित्व पर अधिक ध्यान दिया, भक्ति पर कम। स्वयम् सूर भी कवित्व से किस सीमा तक परिचालित थे, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। काव्य-शास्त्र को ध्यान में रखने की यह प्रवृत्ति हिन्दी कविता के आरम्भ में भी थी। धीरे-धीरे यही कवियों का आलम्बन बन गई। कृष्ण-भक्ति केवल बहाना मात्र रह गई। कवियों ने उद्दीपन विभाव में ऋतु-वर्णन और नखशिख-वर्णन-सम्बन्धी साहित्य उपस्थित किया और कृष्ण-राधा को परोक्ष रूप में रखकर तथा कभी-कभी अपरोक्ष रूप में रखकर भी नायक-नायिका भेद कहा। वास्तव में जिसे हिन्दी का रीति-काव्य कहा जाता है, उसके विकास में कृष्ण-भक्ति-काव्य का बड़ा हाथ है। एक तरह से रीति-शास्त्र ने कृष्ण-काव्य को प्रभावित किया और परवर्ती काल में कृष्ण-काव्य ने हिन्दी रीति-कविता को। इसे हमें यों ही समझ लेना चाहिए कि रीति और भक्ति की धारायें साथ-साथ चल रही थीं, धीरे-धीरे भक्ति साध्य नहीं

---

[1] हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित संस्करण की भूमिका, पृष्ठ १००

रही, काव्य-रीति लक्ष्य हो गये। वास्तव में संस्कृत का प्रचुर साहित्य हिन्दी भक्त-कवियों के सामने था और उसमें शृंगार-काव्य भी कम नहीं था। हर्ष के समय से विद्यापति के समय तक संस्कृत काव्य और पुराण पंडितों और विद्वानों के पठन-पाठन के नियम थे और उन्हें छोड़कर काव्य की सृष्टि करना ही असंभव था। इसीलिए कवि-भक्तों के जाने-अजाने अनेक सुन्दर साहित्य-परंपराओं का समावेश भक्ति-काव्य में हो गया। कालांतर में भक्ति का उन्मेष कम हो जाने पर ये साहित्य-परंपराएं ही सब कुछ बन गईं और कविता का रसस्रोत सूख गया।

ऊपर भक्त-काव्य का जो विवेचन हमने किया है, उससे हमें मध्ययुग की भक्ति की धारा के इतिहास को समझने में सहायता मिलती है और हम कुछ प्रधान भक्तों, मर्मियों और संतों के साहित्य से परिचित होते हैं। इन भक्तों, मर्मियों और संतों का साहित्य कुछ कम नहीं है। यह सच है कि बहुत-सा साहित्य प्रक्षिप्त है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जो निश्चित रूप से अप्रक्षित सिद्ध हो चुका है उसके आधार पर भी हम हिन्दी भक्त-काव्य को संसार के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिला सकते हैं। वास्तव में ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से इस साहित्य की सुन्दरता, विभिन्नता, जीवन-निर्माण में उपयोगिता और इसके निर्माताओं के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हम अधिक नहीं जान पाते। सच तो यह है कि इस साहित्य में हमारे भक्तों संतों का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो सका है। इतना ऊँचा है यह साहित्य! साहित्य यदि हृदय-मन को छूता है, तो यह भक्ति-साहित्य और ऊपर उठकर आत्मा को स्पर्श करता है।

जिन महानुभावों ने भक्ति-साहित्य रचा उनके लौकिक जीवन को हम अच्छी तरह नहीं जानते, परन्तु उनके व्यक्तित्व- से भली-भाँति परिचित न होकर भी हम बहुत कुछ परिचित हैं, कहा जा सकता है। कबीर को ही लीजिये। संत कवियों के काव्य में कबीर का जो प्रभाव है और भक्त कवियों ने उनके सिद्धान्तों से जिस तीव्रता से विरोध

प्रगट किया है, वह उनके व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। कबीर एक अत्यन्त स्वतंत्र-चेत्ता, मस्तमौला और अक्खड़ धर्म-जिज्ञासु थे जिन्होंने लोकधर्म और लोकाचार को किसी भी रूप में स्वीकार न करने का बीड़ा उठा लिया था। जहाँ तक भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का सम्बन्ध है इतना अक्खड़ व्यक्तित्व किसी भी धर्मोपदेशक का नहीं है। वे झुकना तो जानते ही नहीं थे, टूटना भी नहीं जानते थे। यह स्वतंत्र व्यक्तित्व जब व्यंग के भीतर से बोलता है, तो हम आश्चर्य से उँगली दाँतों तले दबा लेते हैं। ऐसी व्यक्तित्व की तेज़ मशाल और किसकी थी? सीधी-सादी भाषा में तेज़ से तेज़ व्यंग कर गुज़रना, अपनी ओर से एकदम निश्चित होकर भाषा और भावना की सारी शक्ति का व्यय विरोधी के सिर पर कर देना—यह बातें कबीर की विशेषतायें हैं। उनका व्यक्तित्व उनके व्यंगों आदि तीव्र आक्षेपों में चमक उठता है—

चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है
पंडित होय के आसन मारै, लँबी माला जपता है
अंतर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नींद जमाता है
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है
कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में भरता है
जेहि कहना है सो कै जइहै पापी बहि बहि मरता है
सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरे खासा है
जेहि घर साधु भीख न पावे, भंडुआ खात बतासा है
हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे का तैसा है

इस प्रकार के कथन में जहाँ ऊँचे दरजे का तत्त्वज्ञान है, वहाँ इनमें उतने ही ऊँचे दरजे का आत्मविश्वास भी है। केवल तत्त्वज्ञान के बल पर कोई इतनी तेज़ भर्त्सना नहीं कर सकता। उनके तर्क बड़े कड़े हैं,

परन्तु वे अत्यन्त लापरवाही से इनका प्रयोग करते हैं। जीवन के विभिन्न पहलुओं से इकट्ठे किये अनुभव उनके आक्रमण को वलवान वना देते हैं। उनके इस आत्मविश्वास के मूल में अवश्य ही उनका चरित्र-वल है। इसी चरित्र की शुद्धता और दृढ़ता के कारण कवीर सभी मत-मतांतरों का विरोध करते हुए भी सहस्रों-सहस्रा मनुष्यों के जीवन को प्रवाहित करने में सफल हुए। जिसमें चारित्रिक शुद्धता तत्प्रासस ाहस नहीं होता, वह इतने ऊँचे स्वरों में नहीं वोलता--

झीनी झीनी बीनी चदरिया

काहे कै ताना काहे कै भरनी कौने तार से वीनी चदरिया।
इंगला-पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तार से वीनी चदरिया॥
आठ कंवल दस चरखा डाकै, पाँच तत्त्व गुन वीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागै, ठोक-ठोक के वीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़न, ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया।
दास कवीर जतन से ओढ़िन, ज्यों कै त्यों धर दीन्ही चदरिया

इस पद में जो स्वर वजता है, वह अद्वितीय है। यह चरित्र-वल की दृढ़ता ही कवीर की सफलता का मूल मंत्र है। इस उक्ति में दम्भ नहीं, पाखंड नहीं, अपनी महत्ता की स्वीकृति नहीं, इसमें आत्म-विश्वास की तीक्ष्णता अवश्य है जो किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कही जा सकती। जो कुछ कहा गया है, वह हृदय में आदर उठाता है, मन को विश्वास के लिए आग्रह देता है। उससे हृदय में विद्रोह नहीं जागता। जहाँ विद्रोह की तेज़ी भी है, वहाँ वह सुननेवाले को मज़ा देता है और कहनेवाले को तृप्त करता है।

परन्तु इस सबका यह तात्पर्य नहीं कि कवीर का व्यक्तित्व कठोर था। सच तो यह है कि वह जितना कठोर था उतना ही कोमल था। यह कोमलता उनकी भक्ति-भावना द्वारा आती है। जो इस-अद्वैतभाव का उपासक है कि—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहे आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इंतजारी क्या ?

--उसका विरोध कितना ही कठोर हो, वह प्रेम का ही विरोध हो सकता है, घृणा का विरोध नहीं। वह बाहर से चाहे जितना कठोर हो, भीतर से अत्यन्त कोमल है। देखिये, संसार के मायाजाल में लिप्त मानव-जीवन की असारता और काल की विकरालता को देखकर कबीर रो रहे हैं--

चलती चक्की देख कर दिया कबीरा रोय
दो पाटन के बीच में साबत रहा न कोय।

विनय-भावना में तो वे भक्त-कवियों को भी मात करते हैं। भला किस भक्त कवि ने इतनी नम्रता दिखाई है, इतना गहरा आत्म-समर्पण किया है जैसा कबीर की इन साखियों में किया गया है--

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ,
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाऊँ।
तो तो करै तो बाहुडै, दुरि दुरि करै तो जाऊँ,
ज्यूँ हरि राखे त्यूँ रहौं, जो दे दैं सो खाऊँ।

स्पष्ट है कि जहाँ पाखंडों के प्रति कबीर कठोर हैं, वहाँ सामान्य जीवन के प्रति विनम्र हैं। उनके व्यक्तित्व में अनेक विनय-तत्वों का समावेश है। विनम्रता और अक्खड़पन, ज्ञान और भक्ति, आत्मग्लानि और आत्मविश्वास, सतर्कता और लापरवाही--यही विरोधी तत्व उन्हें जनता के लिए आकर्षक बना देते हैं। तुलसी को छोड़कर और कोई भी कवि उत्तर भारत की जनता के इतने समीप नहीं पहुँचा है।

परन्तु कबीर से नितांत भिन्न सूरदास और दादूदयाल का व्यक्ति-

स्व है। दोनों प्रेम के पुजारी, चाहे वह निर्गुण के प्रति हो, चाहे सगुण के प्रति। ज़रा भी क्रोध, ज़रा भी कठोरता नहीं--जैसे उनका सारा व्यक्तित्व गलकर जल बन गया है। सूरदास-जैसा सहृदय कवि संसार के सारे साहित्य के इतिहास में कठिनता से मिलेगा। जैसा श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है --'वे बालक का हृदय लेकर पैदा हुये थे और अंत तक बालक का हृदय लिये हुए ही संसार-यात्रा निबाह गये।' 'भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि-जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। बृहद्-भागवतामृत के अनुसार उद्धव भगवान के महाशिष्य, महामात्य और महाप्रियतर थे। वे सदा कृष्ण के साथ रहते थे। शयन के समय, भोजन के समय, राज-कार्य के समय--कभी भी भगवान् का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तक कि अंतःपुर में भी साथ रहते थे। केवल एक बार उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा था और वह उस समय जब उन्हें भगवान् ने व्रज में गोपियों की ख़बर लेने को भेजा था। इस बार उन्हें भगवत्-संग से दूना आनंद मिला था। उनके तीन काम थे--भगवान् की पद-सेवा, उनसे परिहास करना, और क्रीड़ा में साथ रहना। पहले काम में वे इतने तन्मय रहते थे कि अबोध बालकों को यह भ्रम हो जाता कि वे पागल हो गये हैं। जिस कवि-भक्त में भावना इतनी उच्च कोटि की थी, उसे आज पूर्णतः पकड़ा नहीं जा सकता। श्रद्धालु, विश्वासी, विह्वल भाव-भक्त सूरदास इतने बड़े 'सूरसागर' में भी पूरे-पूरे नहीं समा सके हैं। दादू के संबंध में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं--"कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं पर स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज़्यादा, सहज और पुरअसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था पर दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम। कबीर के लिये उनका स्वभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि उन्हें अपने रास्ते में बहुत-से

झाड़-झंखाड़ साफ़ करने थे। दादू को मैदान बहुत कुछ साफ़ मिला था और इसमें उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले।"

तुलसीदास का व्यक्तित्व इन तीनों से भिन्न था। वह थे पंडित-कवि। उनकी प्रतिभा असाधारण थी और उनमें लोकनायत्व के सारे गुण विद्यमान थे। कबीर की तरह फक्कड़ होना उनके लिए संभव नहीं था, न वे सूरदास की तरह संसार से विरुद्ध प्रेम में विभोर भक्त बन सकते थे। वे लोकजीवन को साथ लेकर चलनेवाले जीव थे। वे वर्ण-व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा और व्यक्तिगत संयम के पोषक थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने ज्ञानी-समाज में प्रतिष्ठित हिमालय-जैसी ऊँची ज्ञान-गरिमा को सबके लिए मंदाकिनी की भाँति सुलभ कर दिया। विशृंखल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और लक्ष्य-भ्रष्ट समाज को उन्होंने एक अत्यंत स्वस्थ, अत्यंत सचेतन, अत्यंत प्राणदायी संदेश दिया। रामचरितमानस के रूप में तुलसी का यह संदेश घर-घर पहुँचा और उसने मध्ययुग की हिंदू जनता के लिए आदर्श जीवन के नये-नये मार्ग खोल दिये और राम-लक्ष्मण-हनुमान की वीर मूर्तियाँ उसके मनोमंदिर में प्रतिष्ठित कर दीं। दृढ़चेत्ता लोकनायक में जितने गुण होने चाहिये वे सब तुलसी में थे। ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसीसे घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग प्रदर्शन कर रहा है और आगे भी करता रहेगा।

—और वह प्रेम-वियोगिनी मीरा! आज भी उसके पद उसकी तन्मयतापूर्ण भावुक मूर्ति हृदय-पट पर अंकित कर देते हैं।

मोम की बनी करुणा और प्रेम से द्रवित इस अपूर्व नारी के चरित्र की उलझनें चाहे इस विधान के युग में समझी न जा सकें, यह निश्चित है कि उसका प्रेम-विह्वल व्यक्तित्व युगों-युगों तक हमारे लिए रहस्य और विस्मय की वस्तु रहेगा।

५

कुछ प्रधान भक्त कवि

विद्यापति

हिंदी के भक्त-कवियों में सबसे पहले विद्यापति का नाम आता है, यद्यपि उनके भक्त होने के विषय में अब भी बड़ा मतभेद है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण-भक्ति-काव्य के आदिकवि वही हैं। जयदेव की देववाणी (गीतिमालिका) से प्रभावित हो उन्होंने मैथिली पदों की जो मंदाकिनी बहाई वह एक ओर बंगाली वैष्णव काव्य और उसके माध्यम से आसामी और उड़िया वैष्णव-काव्य और दूसरी ओर सूरदास और ब्रज-प्रदेश के अन्य संप्रदायों के भक्त-कवियों को प्रवाहित करती रही। हो सकता है कि वे केवल शिव-भक्त हों परतु अज्ञात रूप में ही उनके कृष्ण-राधा के शृंगार-पदों में जो भावोन्मेष, जो जीवन-प्रवाह, जो प्राणों का स्पंदन है, वह उन्हें सहज ही भक्ति-काव्य का रूप दे देता है। इसी से हिंदी-काव्य के आलोचक को उन्हें भक्ति-काव्य के शीर्ष स्थान पर रखना होता है।

विद्यापति की भक्ति के दो रूप हमारे सामने आते हैं--एक राधा-कृष्ण भक्ति, दूसरी शिव-गौरी भक्ति। दोनों का प्रकाशन इतनी भिन्न शैलियों में हुआ है कि यह आश्चर्य होने लगता है कि उनमें एक ही व्यक्तित्व है। परंतु विद्यापति के समय की प्रवृत्ति और उस समय के साहित्य से जो प्रमाण हमें उपलब्ध हुये हैं वह इस बात की पुष्टि करते हैं।

विद्यापति का समय वैष्णव धर्म के उस पुनरुत्थान का समय था जो श्रीमद्भागवत का आश्रय लेकर चल पड़ा था। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और भागवत में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन था, परंतु साथ ही उन्हें अव्यक्त, चिरंतन, सर्वोपरि, आदिशक्ति अथवा विष्णु के रूप में प्रति-

प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गई थी। साधारण जनता ने दार्शनिक और आध्यात्मिक रूप को पीछे डाल दिया और विशेष परिस्थितियों के कारण उनके सामने जो मधुर रस एवं शृंगार-रसपूर्ण लीला रखी गई, उसे ही अपनाया। यह ध्यान देने की बात है कि इस सारे काल में आचार्य और विद्वान् भागवत की कृष्ण-लीला में आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट करते रहे और कृष्ण को मानवोपर सत्ता मानते रहे। भागवत दार्शनिक आचार्यों का अत्यंत माननीय ग्रंथ रहा और प्रत्येक वैष्णव आचार्य ने अपने मत के प्रवर्तन एवं पुष्टि के लिए उसे ही सहारे के रूप में ग्रहण कर लिया। वास्तव में मध्ययुग के समस्त धार्मिक आन्दोलन भागवत में वर्णित कृष्ण-लीला पर ही आश्रित हुए थे और दार्शनिकों को उनकी विवेचना के लिए भागवत के दार्शनिक सिद्धातों पर अनेक अर्थों का आरोपण करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भागवत का मध्ययुग के जीवन पर कितना प्रभाव था।

कवि जनता का प्रतिनिधि होता है। हिंदी कवियों ने जनता के कृष्ण-संबंधी दृष्टिकोण को अपनाया। इससे अधिक उनसे आशा करना व्यर्थ है। परंतु इस दृष्टिकोण को ठीक न समझ कर उन पर व्यभिचार-प्रचार का दोषारोपण करना नितांत अनुचित होगा।

कृष्ण की भक्ति का प्रधान रूप लीला-गान था। "लीला-वत्त कैवल्यम्" (लीला कैवल्य अर्थात् मोक्ष है) [अणुभाष्य, २-६-३८]। "लीलाया एवं प्रयोजनत्वात्" (लीला स्वयं ही प्रयोजन है)। इस लीला का एक बड़ा भाग राधा-कृष्ण और गोपियों से संबंधित है। भागवत्कार ने कृष्ण और गोपियों के रूप को स्पष्ट कर दिया है। उनके पीछे के प्रतीक को उन्होंने सदैव ध्यान में रखा है। परंतु प्रतीक साधारण जनता के उत्साह के आगे अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। यह कहना कठिन होगा कि कृष्ण-गोपियों की लीला को मध्ययुग की कृष्ण-भक्त जनता ने कहाँ तक प्रतीक के रूप में ग्रहण किया। शायद

बहुत कम। परंतु लीला-भक्ति की एक विशेष साधना-पद्धति का जन्म हो गया।

जब तक गोपियों का विशेष व्यक्तित्व नहीं था (जैसा भागवत में है) तब तक प्रतीकार्थ का निभाना सरल था परंतु जब अन्य अवतारों की शक्ति के अनुकरण में राधा की स्थापना शक्ति के रूप में हो गई और उन्होंने विशेष गोपी का स्थान ग्रहण कर लिया तो प्रतीक का एकदम लुप्त होना निश्चय हो गया। संस्कृत रीति-शास्त्र और युग की प्रवृत्ति ने राधा-कृष्ण के प्रेम-संबंध को अधिक विकसित किया और उसे लौकिकता की सतह पर उतारा।

जयदेव ने राधा-कृष्ण के क्रीड़ा-विलास को पहली बार उपस्थित किया, परन्तु वे प्रस्तावना में ही अपने दृष्टिकोण को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं--

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो।
यदि विलास-कलासु कुतूहलम्॥
मधुर कोमलकांत पदावली।
श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

जयदेव का गीत-गोविन्द भक्तों और आचार्यों में धर्म ग्रन्थ की तरह ही मान्य था, रीति-ग्रन्थ की भाँति नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग ने जयदेव का दृष्टिकोण समझने में ग़लती नहीं की। पूजा के समय गीत-गोविन्द के पद गाये जाते हैं। यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि क्या भक्तों को उनमें अश्लीलता के दर्शन होते हैं। इसके लिए हमारा उत्तर है--(१) मध्ययुग के भक्तों को विश्वास था कि यह लीला अलौकिक पुरुष ही नहीं, स्वयम् भगवान की लीला है। इसमें कुछ वर्जित नहीं। यह तो क्रीड़ा-मात्र है। अपने मनोरंजन के लिए, भक्तों के विलास के लिए। इसे चुपचाप स्वीकार करने का आनंद लेना ही धर्म है। (२) उस समय यह भावना चल पड़ी थी कि आराध्य को अत्यंत निकट से देखा जाये। सूरदास ने इसी से बालकृष्ण की सृष्टि

की। भगवान भक्त का हो रहे। अतः भगवान की लीला में स्त्री-पुरुष क्रीड़ा-विषयक प्रसंग को महत्त्व देकर उन्हें साधारण स्तर पर लाने की भावना भी होती थी। "ऐसा प्रेम चाहिये जैसा गोपियों का कृष्ण से या राधा का कृष्ण से है"—यह भावना प्रधान थी। प्रेम-लीला का गान करना भक्त और कवि का धर्म था।

विद्यापति की लीला-भक्ति का दृष्टिकोण इस पद से प्रत्यक्ष हो जाता है—

माधव जाए केवाड़ छोड़ाओल, जाहि मंदिर वसु राधा।
चीर उधारि अधर मुख हेरल, पान उगल छकि आधा॥
"चीर कर दूर, पान हम वासलि, अउर सकल पकमाने।"
सगर रैनि हम वैसि गमाओलि, खंडित भेल भोर माने॥
"मथुरा नगर भटकि हम रहलहुँ", "किये न पठाओल दूती।"
मानिक एक मानिक दस पथरल, आतहि रहन पहु सूती॥
कमल नयन कमलापति चुम्बित, कुंभकरण सम दापे।
हरिक चरण गावेथि विद्यापति, राधाकृष्ण विलापे॥

इस 'हरिक चरण गावेथि विद्यापति' से विद्यापति का तात्पर्य क्या होगा, यह स्पष्ट है। प्रत्येक पद के अन्त में (चाहे विषय कुछ हो) यह शरणागति-भाव का आग्रह इस बात का प्रमाण है कि मिथिला शिव-भक्ति का केन्द्र होते हुए भी कृष्ण-भक्ति से अपरिचित नहीं था और केवल नीति-शास्त्र के लिए कृष्णकथा का प्रयोग कदाचित् उस समय के पंडितों के लिए जुगुप्सा का विषय होता। पंडितों में भागवत का प्रचार था और स्वयं विद्यापति के हाथ की भागवत की एक प्रतिलिपि हमें प्राप्त है। कहीं-कहीं राधाकृष्ण पदों में शिव-शक्ति के ढंग पर ब्रह्मजीव का प्रतीक भी विद्यापति ने बाँधा है। इस प्रवृत्ति से यही जान पड़ता है कि वह राधाकृष्ण के ब्रह्मपर और शक्ति-रूप से परिचित थे। यह निश्चित है कि विद्यापति मूलतः जयदेव से प्रभावित थे और उन्होंने अपने पांडित्य-प्रदर्शन और राजप्रशंसा के कारण ही

रीतिकाल के ढंग पर, राधाकृष्ण-कथा को पदबद्ध किया। कदाचित् पद-रचना की परंपरा पहले से चली आती है। संभव है, राधा-कृष्ण संबंधी कुछ पद पहले भी लिखे जा चुके हों और विद्यापति की प्रतिभा को उनसे प्रेरणा मिली हो। जो हो, यह निश्चित है कि राधा-कृष्ण पदावली का उन्मेष नवद्वीप के चंडीदास और मिथिला के विद्यापति ने लगभग एक ही समय में किया और दोनों मूलतः वैष्णव भावना से प्रेरित नहीं थे, यद्यपि बाद में उनके पद वैष्णव भक्ति से संबंधित हो गये। मिथिला में शिव-भक्ति का विशेष रूप से प्रचार था। शिव के अनेक मंदिर थे जिनमें नवचारी के द्वारा भगवान भूतनाथ की आराधना की जाती थी। विद्यापति के पूर्वज शिव-भक्त थे। वह स्वयं भी संस्कारवश शिव की पूजा करते होंगे। अतः उनका भक्ति-भाव व्यक्त रूप से शंकर की ओर ही मुड़ता है।

विद्यापति की शिव-विषयक भावना कई रूपों में प्रकट हुई है—

(१) शिव के नृत्यों और शिव-गौरी के कथोपकथन में।

(२) विनयावली में।

इनमें से दूसरी भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अनेक पद प्रार्थना, दुःख और पश्चात्ताप को व्यक्त करते हैं। इस पश्चात्ताप से यह अर्थ नहीं निकाल लेना चाहिए कि कवि अपने राधाकृष्ण काव्य के विषय में लज्जित है या उसका जीवन विशेष पतित है। इसका कारण उसकी उच्च संस्कारजन्य धर्म-भावना है। अंतिम अवस्था में पहुँच कर विद्यापति नये देवता राधाकृष्ण को पीछे डाल कर कुलदेवता शंकर की ओर मुड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके इन पदों में न काव्य का सौन्दर्य है, न विनय है, केवल सीधा-सादा पश्चात्ताप है, परंतु इससे कवि की मनोवृत्ति का पता लगता है और उसकी भक्ति-भावना की गहराई व्यंजित होती है।

सत्य तो यह है कि हर (शिव) और कृष्ण के भक्त होने पर भी विद्यापति का हृदय सबके लिए उन्मुक्त था। उन्होंने आदिशक्ति

(देवी) की स्तुति की है, हरि-हरि के अभिन्न रूप की कल्पना की है और गंगा की प्रार्थना में भी वे उसी तन्मयता से लगे हैं जिस तन्मयता से शिव के। वे अनेक देवियों को एक ही मातृशक्ति का रूप मानते हैं। फिर भी विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि वह शैव थे। उनकी लोकप्रिय नचारियों और उनकी समाधि के ऊपर बने शिवमंदिर से इसी बात की पुष्टि होती है। "शैव सर्वस्वसार" का विषय ही शिव-पूजा है। 'दुर्गा-भक्तितरंगिनी' और कुछ पदों में दुर्गा की प्रार्थना है, परन्तु दुर्गा शिव की अर्धांगिनी होने से पूज्या हैं ही। और गंगा तो शिव जटावलम्बिनी हैं। इससे उनकी भक्ति भी शिव-भक्ति की भूमिका हो सकती है या उसका अंग। विद्यापति ने एक स्थान पर "हरगौरी" को अपना इष्टदेव बनाया है--

लौढ़व कुसुम तोड़व बेलपात।
पूजव सदाशिव गौरिक सात॥

हरिहर की एकता पुराण-सिद्ध है। तब इसी एकता की भावना लेकर विद्यापति ने 'हरिहरि शिवशिव तावे जाइव जिव, जावे व उपजु सिनेह' कहा है। उन्होंने विष्णु-पूजा पर कुछ भी नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि वे वैष्णव नहीं थे, शैव थे। स्पष्ट ही न विद्यापति एकेश्वरवादी थे (जैसा डा० जनार्दनमिश्र का मत है) न वे पंच देवोपासक ही थे, न शाक्त (जैसा पं० भागवत शुक्ल मानते हैं---माधुरी, जनवरी १६३६), न त्रिदेवोपासक (जैसा रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी का मत जान पड़ता है)। वास्तव में, विद्यापति प्राचीन मान्यता के अनुसार ही गणेश-वंदना रखते हैं। यह भी संभव है कि जिस तरह किसी भी पूजा के आरंभ में मिथिला में आज भी सामान्य रूप में पंचदेवता की पूजा की जाती है, वैसी ही विद्यापति के समय में होती हो। परन्तु इसके आधार पर विद्यापति को पंचदेवोपासक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि कदाचित् तांत्रिक उपासना की प्रवलता के कारण विद्यापति कभी शक्ति के उपासक रहे हों और बाद

(देवी) की स्तुति की है, हरि-हरि के अभिन्न रूप की कल्पना की है और गंगा की प्रार्थना में भी वे उसी तन्मयता से लगे हैं जिस तन्मयता से शिव के। वे अनेक देवियों को एक ही मातृशक्ति का रूप मानते हैं। फिर भी विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि वह शैव थे। उनकी लोकप्रिय नचारियों और उनकी समाधि के ऊपर बने शिवमंदिर से इसी बात की पुष्टि होती है। "शैव सर्वस्वसार" का विषय ही शिव-पूजा है। 'दुर्गा-भक्तितरंगिनी' और कुछ पदों में दुर्गा की प्रार्थना है, परन्तु दुर्गा शिव की अर्धांगिनी होने से पूज्या हैं ही। और गंगा तो शिव जटावलम्बिनी हैं। इससे उनकी भक्ति भी शिव-भक्ति की भूमिका हो सकती है या उसका अंग। विद्यापति ने एक स्थान पर "हरगौरी" को अपना इष्टदेव बनाया है--

लौढ़व कुसुम तोड़व बेलपात।
पूजब सदाशिव गौरिक सात॥

हरिहर की एकता पुराण-सिद्ध है। तब इसी एकता की भावना लेकर विद्यापति ने 'हरिहरि शिवशिव तावे जाइव जिव, जावे व उपजु सिनेह' कहा है। उन्होंने विष्णु-पूजा पर कुछ भी नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि वे वैष्णव नहीं थे, शैव थे। स्पष्ट ही न विद्यापति एकेश्वरवादी थे (जैसा डा० जनार्दनमिश्र का मत है) न वे पंच देवोपासक ही थे, न शाक्त (जैसा पं० भागवत शुक्ल मानते हैं---माधुरी, जनवरी १९३९), न त्रिदेवोपासक (जैसा रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी का मत जान पड़ता है)। वास्तव में, विद्यापति प्राचीन मान्यता के अनुसार ही गणेश-वंदना रखते हैं। यह भी संभव है कि जिस तरह किसी भी पूजा के आरंभ में मिथिला में आज भी सामान्य रूप में पंचदेवता की पूजा की जाती है, वैसी ही विद्यापति के समय में होती हो। परन्तु इसके आधार पर विद्यापति को पंचदेवोपासक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि कदाचित् तांत्रिक उपासना की प्रबलता के कारण विद्यापति कभी शक्ति के उपासक रहे हों और बाद

(देवी) की स्तुति की है, हरि-हरि के अभिन्न रूप की कल्पना की है और गंगा की प्रार्थना में भी वे उसी तन्मयता से लगे हैं जिस तन्मयता से शिव के। वे अनेक देवियों को एक ही मातृशक्ति का रूप मानते हैं। फिर भी विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि वह शैव थे। उनकी लोकप्रिय नचारियों और उनकी समाधि के ऊपर बने शिवमंदिर से इसी बात की पुष्टि होती है। "शैव सर्वस्वसार" का विषय ही शिव-पूजा है। 'दुर्गा-भक्तितरंगिनी' और कुछ पदों में दुर्गा की प्रार्थना है, परन्तु दुर्गा शिव की अर्धांगिनी होने से पूज्या हैं ही। और गंगा तो शिव जटावलम्बिनी हैं। इससे उनकी भक्ति भी शिव-भक्ति की भूमिका हो सकती है या उसका अंग। विद्यापति ने एक स्थान पर "हरगौरी" को अपना इष्टदेव बनाया है--

लौढ़व कुसुम तोड़व बेलपात।
पूजव सदाशिव गौरिक सात॥

हरिहर की एकता पुराण-सिद्ध है। तब इसी एकता की भावना लेकर विद्यापति ने 'हरिहरि शिवशिव तावे जाइव जिव, जावे व उपजु सिनेह' कहा है। उन्होंने विष्णु-पूजा पर कुछ भी नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि वे वैष्णव नहीं थे, शैव थे। स्पष्ट ही न विद्यापति एकेश्वरवादी थे (जैसा डा० जनार्दनमिश्र का मत है) न वे पंच देवोपासक ही थे, न शाक्त (जैसा पं० भागवत शुक्ल मानते हैं---माधुरी, जनवरी १९३६), न त्रिदेवोपासक (जैसा रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी का मत जान पड़ता है)। वास्तव में, विद्यापति प्राचीन मान्यता के अनुसार ही गणेश-वंदना रखते हैं। यह भी संभव है कि जिस तरह किसी भी पूजा के आरंभ में मिथिला में आज भी सामान्य रूप में पंचदेवता की पूजा की जाती है, वैसी ही विद्यापति के समय में होती हो। परन्तु इसके आधार पर विद्यापति को पंचदेवोपासक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि कदाचित् तांत्रिक उपासना की प्रबलता के कारण विद्यापति कभी शक्ति के उपासक रहे हों और बाद

रीतिकाल के ढंग पर, राधाकृष्ण-कथा को पदबद्ध किया। कदाचित् पद-रचना की परंपरा पहले से चली आती है। संभव है, राधा-कृष्ण संबंधी कुछ पद पहले भी लिखे जा चुके हों और विद्यापति की प्रतिभा को उनसे प्रेरणा मिली हो। जो हो, यह निश्चित है कि राधा-कृष्ण पदावली का उन्मेष नवद्वीप के चंडीदास और मिथिला के विद्यापति ने लगभग एक ही समय में किया और दोनों मूलतः वैष्णव भावना से प्रेरित नहीं थे, यद्यपि बाद में उनके पद वैष्णव भक्ति से संबंधित हो गये। मिथिला में शिव-भक्ति का विशेष रूप से प्रचार था। शिव के अनेक मंदिर थे जिनमें नवचारी के द्वारा भगवान भूतनाथ की आराधना की जाती थी। विद्यापति के पूर्वज शिव-भक्त थे। वह स्वयं भी संस्कारवश शिव की पूजा करते होंगे। अतः उनका भक्ति-भाव व्यक्त रूप से शंकर की ओर ही मुड़ता है।

विद्यापति की शिव-विषयक भावना कई रूपों में प्रकट हुई है--

(१) शिव के नृत्यों और शिव-गौरी के कथोपकथन में।

(२) विनयावली में।

इनमें से दूसरी भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अनेक पद प्रार्थना, दुःख और पश्चात्ताप को व्यक्त करते हैं। इस पश्चात्ताप से यह अर्थ नहीं निकाल लेना चाहिए कि कवि अपने राधाकृष्ण काव्य के विषय में लज्जित है या उसका जीवन विशेष पतित है। इसका कारण उसकी उच्च संस्कारजन्य धर्म-भावना है। अंतिम अवस्था में पहुँच कर विद्यापति नये देवता राधाकृष्ण को पीछे डाल कर कुलदेवता शंकर की ओर मुड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके इन पदों में न काव्य का सौन्दर्य है, न विनय है, केवल सीधा-सादा पश्चात्ताप है, परंतु इससे कवि की मनोवृत्ति का पता लगता है और उसकी भक्ति-भावना की गहराई व्यंजित होती है।

सच तो यह है कि हर (शिव) और कृष्ण के भक्त होने पर भी विद्यापति का हृदय सबके लिए उन्मुक्त था। उन्होंने आदिशक्ति

(देवी) की स्तुति की है, हरि-हरि के अभिन्न रूप की कल्पना की है और गंगा की प्रार्थना में भी वे उसी तन्मयता से लगे हैं जिस तन्मयता से शिव के। वे अनेक देवियों को एक ही मातृशक्ति का रूप मानते हैं। फिर भी विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि वह शैव थे। उनकी लोकप्रिय नचारियों और उनकी समाधि के ऊपर बने शिवमंदिर से इसी बात की पुष्टि होती है। "शैव सर्वस्वसार" का विषय ही शिव-पूजा है। 'दुर्गा-भक्तितरंगिनी' और कुछ पदों में दुर्गा की प्रार्थना है, परन्तु दुर्गा शिव की अर्धांगिनी होने से पूज्या हैं ही। और गंगा तो शिव जटावलम्बिनी हैं। इससे उनकी भक्ति भी शिव-भक्ति की भूमिका हो सकती है या उसका अंग। विद्यापति ने एक स्थान पर "हरगौरी" को अपना इष्टदेव बनाया है--

लौढ़व कुसुम तोड़व बेलपात।
पूजब सदाशिव गौरिक सात॥

हरिहर की एकता पुराण-सिद्ध है। तब इसी एकता की भावना लेकर विद्यापति ने 'हरिहरि शिवशिव तावे जाइब जिव, जावे व उपजु सिनेह' कहा है। उन्होंने विष्णु-पूजा पर कुछ भी नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि वे वैष्णव नहीं थे, शैव थे। स्पष्ट ही न विद्यापति एकेश्वरवादी थे (जैसा डा० जनार्दनमिश्र का मत है) न वे पंच देवोपासक ही थे, न शाक्त (जैसा पं० भागवत शुक्ल मानते हैं---माधुरी, जनवरी १६३६), न त्रिदेवोपासक (जैसा रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी का मत जान पड़ता है)। वास्तव में, विद्यापति प्राचीन मान्यता के अनुसार ही गणेश-वंदना रखते हैं। यह भी संभव है कि जिस तरह किसी भी पूजा के आरंभ में मिथिला में आज भी सामान्य रूप में पंचदेवता की पूजा की जाती है, वैसी ही विद्यापति के समय में होती हो। परन्तु इसके आधार पर विद्यापति को पंचदेवोपासक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि कदाचित् तांत्रिक उपासना की प्रबलता के कारण विद्यापति कभी शक्ति के उपासक रहे हों और बाद

में हर-गौरी की युगल मूर्ति को अपना इष्टदेव बनाकर उन्होंने राधा-कृष्ण जैसा युग उपस्थित किया हो।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि विद्यापति वैष्णव भक्त-कवि नहीं थे। उनकी भक्ति शिवगौरी के आध्यात्मिक प्रतीकों को लेकर चलती थी। परन्तु फिर भी वैष्णव कवियों में विद्यापति की गणना उसी तरह आवश्यक हो जाती है, जिस प्रकार जयदेव की गणना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जयदेव के समय से पूर्वी प्रदेशों में जो वैष्णव भावना बही, उसके आधार जयदेव और विद्यापति के पद ही हुए और उन्होंने परवर्ती काल में सारे उत्तर भारत की वैष्णव भावना को प्रभावित किया। वैष्णव-कृष्ण-भक्ति का एक केन्द्र पूर्व में जयदेव से बहुत पहले स्थापित हो गया था। जयदेव ने गीत गोविन्दम् में उमापति का कथन किया है। विद्वानों का कहना है कि यह उमापति राजा लक्ष्मणसिंह के दादा विजयसेन के राजकवि थे। राधा-कृष्ण के सबसे पहले गीत उन्होंने बनाये। विजयसेन के समय के एक शिलालेख में उनका नाम उमापतिधर लिखा है। यदि वह उमापतिधर राधाकृष्ण-पदों के गायक उमापति ही थे, तो राधाकृष्ण-साहित्य जयदेव से पहले (१२वीं शताब्दी से पहले) ही पूर्व में आरम्भ हो गया था और इसका प्रारम्भ बँगला भाषा में हुआ। संस्कृत में हमें पद-साहित्य नहीं मिलता और जयदेव के पदों की शैली और उनके माधुर्य को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनके पहले इस प्रकार के गीत अवश्य लिखे गये होंगे और कदाचित् लोक-भाषा में। इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण-साहित्य गौड़ देश के हिन्दू-राज्य में अंकुरित हुआ। उमापति के गीत विद्यापति और अन्य भाषा-कवियों के सम्मुख अवश्य रहे होंगे। सम्भव है, इन्हीं की लोकप्रियता से जयदेव को भी प्रेरणा मिली हो।

उस समय श्रीमद्भागवत अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। हिन्दू राज-दरबारों में उसका पाठ होता था। उत्तमोत्तम पंडित उसके अर्थ

कहते थे। खुले दरबार में राजा सुनते थे। इससे शीघ्र ही राजाश्रय-प्राप्त कवियों को उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। राजा-महाराजाओं द्वारा भागवत का आदर हिन्दू राज्यों में बराबर चलता रहा और इसने राधा-कृष्ण साहित्य को प्रेरणा दी। सम्भव है, प्रारंभिक राधा-कृष्ण-काव्य भक्ति की प्रेरणा द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ हो, परन्तु राजाश्रय उसका कारण अवश्य था। जनता में अभी राधा-कृष्ण-भक्ति नहीं पहुँची थी। इसी कारण उसमें कल्पना और काव्य-परिपाटी का प्रभाव अधिक है, अनुभूति कम। इसी राजाश्रय और राजाओं की भागवत-प्रियता ने अंतिम गौड़राज राजा लक्ष्मणसेन (११३८ ई०--११६६ ई०), के समय में जयदेव को गीत गोविन्दम् की रचना की ओर प्रेरित किया। ११६८ ई० में मुसलमान आक्रमणकारियों ने राम-राज्य को नष्ट कर दिया। इस समय तक मिथिला का राज्य-दरबार गौड़राज्य का आश्रित था। सेनराज्य के नष्ट होने पर मिथिला ब्राह्मणों, पंडितों और कवियों का केन्द्र हो गया। इस समय काशी और मिथिला दो ही पंडितों के केन्द्र थे और लगभग १६वीं शताब्दी तक यही परिस्थिति रही। मिथिला के हिन्दू राज्यों ने एक बार सेनराज्य को आदर्श मान कर फिर उसके ऐश्वर्य को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की। उनके यहाँ भी भागवत का बड़ा मान रहा, यद्यपि जनता शैव थी। उन्होंने सेनकवियों के अनुकरण में बड़ी-बड़ी उपाधियाँ पाईं। मिथिला-केन्द्र में ही विद्यापति द्वारा राधा-कृष्ण-काव्य की रचना हुई। विद्यापति के काव्य की तुलना जयदेव के गीत गोविन्दम् से करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली, भाव आदि की दृष्टि से उसपर गीत गोविन्दम् का बड़ा प्रभाव पड़ा है यद्यपि विद्यापति में मौलिकता की कमी नहीं है। जयदेव आदि की तरह विद्यापति का काव्य भी वैयक्तिक है, जनता की भावना का सहारा नहीं लेता। वह कल्पना, काव्य, कथा और वैयक्तिक अनुभूति पर खड़ा है। उसके पीछे धार्मिक भावना नहीं, परन्तु पीछे विद्यापति के पद वैष्णव भावना के उत्कृष्ट उदाहरण मान लिये गये। बंगाल की जनता में कृष्ण-

राधा की भक्ति का प्रचार सबसे पहले हुआ और मध्वाचार्य और निंबार्काचार्य ने उसे दर्शन की भित्ति दी। मध्वाचार्य के शिष्य माधवेन्द्रपुरी वृन्दावन जाकर रहने लगे। उस समय तक वृन्दावन किसी भक्ति-संप्रदाय का केन्द्र नहीं था। माध्वेन्द्रपुरी ने वृन्दावन में एक कृष्ण-मंदिर बनवाकर उसमें गोपाल कृष्ण की स्थापना की। उनके अनेक शिष्य नित्यानंद, अद्वैताचार्य, केशव भारती, पुंडरीक और माधवमिश्र पंद्रहवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण कृष्ण-भक्त थे। ईश्वरीपुरी चैतन्य के गुरू थे जिनके कारण नवद्वीप (पूर्व बंगाल) वैष्णवों का केन्द्र हो गया। चैतन्य के गुरूभाई वल्लभाचार्य ने इसी समय वृन्दावन में पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया। हितहरिवंश ने निकुंजविहार की साधना को आधार मान कर राधावल्लभीय पंथ का श्रीगणेश किया। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में नवद्वीप और वृन्दावन कृष्ण-भक्ति के दो प्रधान केन्द्र हुए।

(ख) कबीर

कबीर और अन्य भक्त कवियों की विचारधारा के सम्यक् रूप को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम वैष्णव भाव-धारा के मध्य-युगीन विकास के इतिहास को भली भाँति जान लें। मध्ययुग के धार्मिक क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय पौराणिक धर्म को एक नूतन रूप मिलता है। अतएव भक्त-संप्रदायों का मूल प्राचीन काल के वासुदेव धर्म में होने पर भी वे मध्ययुग में नये रूप से संगठित हुये हैं। वैष्णव धर्म का आरम्भ ३०० पू० ई० के लगभग वासुदेव धर्म या वैष्णव धर्म के नाम से हुआ। २०० पू० ई० तक इसका प्रचार उत्तर भारत में ही हुआ। इसके पश्चात् यह लुप्त तो नहीं हो गया परन्तु कुछ क्षीण अवश्य हो गया। वास्तव में २०० पू० ई० के पश्चात् वैष्णव धर्म दक्षिण भारत में चला गया। वहाँ शैव-धर्म प्रबल था। संभवत: मथुरा के निकटवर्ती कुछ वैष्णव दक्षिण की ओर गये और उन्होंने वहाँ वैष्णव-मत का प्रचार किया। १२०० ई० तक वैष्णव-धर्म

दक्षिण में ही प्रमुखता प्राप्त करता गया। दक्षिण में इस काल में वैष्णव-धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ भक्त हुए हैं जो अलवाइ नाम से प्रसिद्ध हैं। ये ५वीं-६ठी शताब्दी में वर्तमान थे। ये संत थे और भक्तिपूर्ण पदों की रचना करते थे। १००० ई० और १३०० ई० के बीच में चार महान् आचार्य हुये। निम्वार्क, मध्वाचार्य, रामानुज और विष्णु-स्वामी। इन्होंने वैष्णव-धर्म-सम्बन्धी दार्शनिक ग्रंथों की रचना की और स्वयं वैष्णव-धर्म के प्रचार में सहायक हुए। यही भक्ति को दक्षिण भारत से उत्तर भारत में लाये जैसा पद्मपुराण की इस कथा से प्रगट है—"कलियुग में नारद विभिन्न लोकों में विचरण करते हुए जब यमुनातट पर पहुँचे तो उन्होंने एक बड़ा आश्चर्य देखा। उस जगह एक युवती बड़ी खिन्न-चित्त बैठी हुई थी। उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत अवस्था में पड़े ज़ोर-ज़ोर से साँस ले रहे थे। पूछने पर स्त्री ने बताया कि उसका नाम भक्ति है और वृद्ध ज्ञान और वैराग्य नामक उसके पुत्र हैं जो समय के फेर से ऐसे जर्जर हो गये हैं। भक्ति ने कहा—मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न होकर कर्णाटक में बड़ी हुई। कहीं-कहीं महाराष्ट्र में भी मेरा अच्छा मान हुआ, किन्तु गुजरात में मुझको बुढ़ापे ने घेर लिया। वहाँ घोर कलियुग के प्रभाव से पाखंडियों ने मुझे अङ्ग-भङ्ग कर डाला। तब अपने पुत्रों के सहित बहुत दिनों तक दुर्बल अवस्था में रहने के कारण निस्तेज हो गई। अब जब मैं वृन्दावन आई तो फिर अत्यन्त प्रिय रसवाली सुन्दरी नवयुवती हो गई किन्तु मेरे पास पड़े मेरे ये पुत्र अब भी थके-माँदे क्लेश भोग रहे हैं। नारद ने उसे सान्त्वना देकर कहा—सत्य, त्रेता, द्वापर इन तीनों युगों में तो ज्ञान और वैराग्य मुक्ति के साधन थे, किन्तु इस युग में तो केवल तू भक्ति ही ब्रह्म सायुज्य (मोक्ष) की प्राप्ति करानेवाली है। ऐसा सोचकर ही परमानन्द चिन्मूर्ति ज्ञान-स्वरूप श्री हरि ने अपने स्वरूप से तुझे रचा है। तू मुक्ति, ज्ञान और वैराग्य के साथ पृथ्वीतल पर आई और सत्य-युग से द्वापर पर्यंत बड़े आनन्द में रही। कलियुग में तेरी दासी मुक्ति

पाखंड रोग से पीड़ित होकर क्षीण होने लगी थी, इसीलिए वह तो तुरन्त तेरी आज्ञा से वैकुण्ठ लोक को चली गई। इस लोक में भी तेरे स्मरण करने से ही वह आती है और फिर चली जाती है। ये ज्ञान-वैराग्य उपेक्षा के कारण ही उत्साहहीन और वृद्ध हो गये हैं। सुमुखि, कलि के समान तो कोई युग नहीं है। इस युग में तुझे घर-घर में प्रत्येक पुरुष के हृदय में स्थापित कर दूँगा।"

१३०० ई० से १८०० ई० तक भक्ति का सर्वांगपूर्ण विकास उत्तर भारत में हुआ। इसी समय रामानन्द, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य और सैकड़ों भक्त और धर्म-प्रवर्तक हुये। रामानन्द रामानुज की भक्तिपरम्परा, वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी की भक्ति परम्परा, हितहरिवंश मध्वाचार्य की भक्ति-परम्परा और विद्यापति निम्बार्काचार्य की भक्ति-परम्परा के भक्त हैं।

मध्ययुग के सभी भक्ति-संप्रदायों (वैष्णव संप्रदायों) में विष्णु के किसी न किसी अवतार की पूजा होती है। यद्यपि आरंभ में राम-कृष्ण आदि विष्णु के अवतार माने गये परन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुआ—विशेषकर संतों के आक्रमण के कारण वे सीधे परब्रह्म माने जाने लगे। तुलसी, सूर आदि भक्त-कवियों ने अपने आराध्यदेव राम-कृष्ण को विष्णु से भी बढ़कर परब्रह्मस्वरूप माना है। उनकी उपासना विष्णु भी करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इन सभी संप्रदायों के मत अद्वैत से संबंध रखते हैं। षट्दर्शनों में वेदांत अथवा अद्वैत से ही इनका संबंध अधिक है और ये सभी ईश्वरवादी हैं। समस्त भक्त-संप्रदायों में भक्त और भगवान के संबंध में उपासना के स्थान में भक्ति की भावना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। उपासना का अर्थ है परमात्मा के समीप बैठना। योगी भी परमात्मा के निकट योग-साधन से पहुँच जाता है। परंतु इन भक्तों में योग की उपासना ग्राह्य नहीं है। इनमें भक्ति-भावना को ही महत्त्व है प्राप्त हुआ। भक्ति-भावना में भजन, प्रार्थना आदि के अतिरिक्त आत्म-समर्पण की भावना भी है। इस प्रकार

की भक्ति का उदय १२०० ई० के पश्चात् उत्तर भारत में हुआ। इसके पूर्व दक्षिण भारत में इस भावना का उदय हो चुका था। भक्ति का संबंध संस्कृत के प्रत्येक अंग से था। साम्य-भाव की भी इसमें अवस्थिति थी क्योंकि भक्तों का, विश्वास था कि भगवान की दृष्टि में सब समान हैं। उनकी दृष्टि में न कोई ऊँचा था, न नीचा। उनका कहना था—

जाति पाँति पूछै नहिं कोई
हरि का भजै सो हरि का होई

वैष्णव सम्प्रदाय में उदारता की भावना भी विशेष रूप से मिलती है। अन्य सम्प्रदायों का खंडन-मण्डन करना किसी वैष्णव संप्रदाय का दृष्टिकोण नहीं रहा। प्रादेशिक भाषा द्वारा सब संप्रदायों ने अपने-अपने मत का प्रचार किया। सर्वसाधारण की भाषा का इतना व्यापक प्रयोग कभी नहीं हुआ था। इस समय सभी ग्रन्थ बोली जानेवाली भाषा में लिखे गये। अतएव साहित्य और भाषा पर भी भक्ति के आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। आरंभ में इन सम्प्रदायों ने कार्मकाण्ड को ऊँचा स्थान नहीं दिया परन्तु धीरे-धीरे इसकी ओर भी ध्यान दिया जाने लगा और पूजा-उपासना की विधिवत् आयोजना हुई।

कबीर के समय के उत्तर भारत के धार्मिक अभ्युदय में रामानंद का बड़ा भाग था, परन्तु रामानंद के पहले भी कुछ ऐसे संत हो चुके थे जिन्होंने भक्ति, निर्गुण उपासना और जातिभेद का विरोध आदि उन बातों की प्रतिष्ठा की जो रामानंद और उनके अनुयायियों में विशेष रूप से विकसित हुई हैं। सिक्खों के आदिग्रंथ में जिसका संग्रह १६०४ ई० में गुरू अर्जुनदेव ने किया था, भक्ति-सम्प्रदाय की कविता के प्राचीनतम नमूने मिलते हैं। इनमें रामानंद के अग्रज नामदेव और सदन की कविताएँ हैं। रामानंद ने उपदेश किया कि अविनाशी परमात्मा की राम के रूप में पूजा करनी उचित है। आदिग्रंथ में रामानंद का जो पद है वह मन्दिर जाने का प्रत्याख्यान

पाखंड रोग से पीड़ित होकर क्षीण होने लगी थी, इसीलिए वह तो तुरन्त तेरी आज्ञा से वैकुण्ठ लोक को चली गई। इस लोक में भी तेरे स्मरण करने से ही वह आती है और फिर चली जाती है। ये ज्ञान-वैराग्य उपेक्षा के कारण ही उत्साहहीन और वृद्ध हो गये हैं। सुमुखि, कलि के समान तो कोई युग नहीं है। इस युग में तुझे घर-घर में प्रत्येक पुरुष के हृदय में स्थापित कर दूँगा।"

१३०० ई० से १८०० ई० तक भक्ति का सर्वांगपूर्ण विकास उत्तर भारत में हुआ। इसी समय रामानन्द, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य और सैकड़ों भक्त और धर्म-प्रवर्तक हुये। रामानन्द रामानुज की भक्तिपरम्परा, वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी की भक्ति परम्परा, हितहरिवंश मध्वाचार्य की भक्ति-परम्परा और विद्यापति निम्बार्काचार्य की भक्ति-परम्परा के भक्त हैं।

मध्ययुग के सभी भक्ति-संप्रदायों (वैष्णव संप्रदायों) में विष्णु के किसी न किसी अवतार की पूजा होती है। यद्यपि आरंभ में राम-कृष्ण आदि विष्णु के अवतार माने गये परन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुआ—विशेषकर संतों के आक्रमण के कारण वे सीधे परब्रह्म माने जाने लगे। तुलसी, सूर आदि भक्त-कवियों ने अपने आराध्यदेव राम-कृष्ण को विष्णु से भी बढ़कर परब्रह्मस्वरूप माना है। उनकी उपासना विष्णु भी करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इन सभी संप्रदायों के मत अद्वैत से संबंध रखते हैं। षट्दर्शनों में वेदांत अथवा अद्वैत से ही इनका संबंध अधिक है और ये सभी ईश्वरवादी हैं। समस्त भक्त-संप्रदायों में भक्त और भगवान के संबंध में उपासना के स्थान में भक्ति की भावना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। उपासना का अर्थ है परमात्मा के समीप बैठना। योगी भी परमात्मा के निकट योग-साधन से पहुँच जाता है। परंतु इन भक्तों में योग की उपासना ग्राह्य नहीं है। इनमें भक्ति-भावना को ही महत्त्व है प्राप्त हुआ। भक्ति-भावना में भजन, प्रार्थना आदि के अतिरिक्त आत्म-समर्पण की भावना भी है। इस प्रकार

की भक्ति का उदय १२०० ई० के पश्चात् उत्तर भारत में हुआ। इसके पूर्व दक्षिण भारत में इस भावना का उदय हो चुका था। भक्ति का संबंध संस्कृत के प्रत्येक अंग से था। साम्य-भाव की भी इसमें अवस्थिति थी क्योंकि भक्तों का, विश्वास था कि भगवान की दृष्टि में सब समान हैं। उनकी दृष्टि में न कोई ऊँचा था, न नीचा। उनका कहना था—

जाति पाँति पूछै नहिं कोई
हरि का भजै सो हरि का होई

वैष्णव सम्प्रदाय में उदारता की भावना भी विशेष रूप से मिलती है। अन्य सम्प्रदायों का खंडन-मण्डन करना किसी वैष्णव संप्रदाय का दृष्टिकोण नहीं रहा। प्रादेशिक भाषा द्वारा सब संप्रदायों ने अपने-अपने मत का प्रचार किया। सर्वसाधारण की भाषा का इतना व्यापक प्रयोग कभी नहीं हुआ था। इस समय सभी ग्रन्थ बोली जानेवाली भाषा में लिखे गये। अतएव साहित्य और भाषा पर भी भक्ति के आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। आरंभ में इन सम्प्रदायों ने कार्मकाण्ड को ऊँचा स्थान नहीं दिया परन्तु धीरे-धीरे इसकी ओर भी ध्यान दिया जाने लगा और पूजा-उपासना की विधिवत् आयोजना हुई।

कबीर के समय के उत्तर भारत के धार्मिक अभ्युदय में रामानंद का बड़ा भाग था, परन्तु रामानंद के पहले भी कुछ ऐसे संत हो चुके थे जिन्होंने भक्ति, निर्गुण उपासना और जातिभेद का विरोध आदि उन बातों की प्रतिष्ठा की जो रामानंद और उनके अनुयायियों में विशेष रूप से विकसित हुई हैं। सिक्खों के आदिग्रंथ में जिसका संग्रह १६०४ ई० में गुरू अर्जुनदेव ने किया था, भक्ति-सम्प्रदाय की कविता के प्राचीनतम नमूने मिलते हैं। इनमें रामानंद के अग्रज नामदेव और सदन की कविताएँ हैं। रामानंद ने उपदेश किया कि अविनाशी परमात्मा की राम के रूप में पूजा करनी उचित है। आदिग्रंथ में रामानंद का जो पद है वह मन्दिर जाने का प्रत्याख्यान

करता है परंतु इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि ये प्रतिमा-पूजन के कट्टर विरोधी थे। नि.सन्देह उनका राम केवल दाशरथि राम नहीं है, वह सर्वव्यापी है। उनके मत में धर्म का सार राम में है क्योंकि राम की आचार की पराकाष्ठा है और व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। वर्ण-व्यवस्था में रामानंद की आस्था नहीं थी। उनके शिष्यों में बहुत से शूद्र थे और कुछ मुसलमान भी। परन्तु उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का प्रत्याख्यान कभी भी नहीं किया। हिन्दी साहित्य में रामानंद के प्रभाव से दो श्रेणी का साहित्य बना। परंतु स्वयं धार्मिक क्षेत्र में भी उनके उपदेशों को लेकर दो प्रकार की साधनाएँ चल रही थीं। एक निर्गुण राम की भक्ति, दूसरे दाशरथि परब्रह्म राम की भक्ति। और यह साहित्य-भेद इसी भेद का फल है। रामानंद-मत का महत्त्व इस बात में है कि उसका समग्र साहित्य हिन्दी भाषा में है। रामानन्द ने संस्कृत की उपेक्षा कर एकान्ततः हिन्दी (लोकभाषा) का सहारा लिया और उसी में अपने संप्रदाय का प्रचार किया।

दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से रामानन्द की स्थिति समझना कठिन है। रामानन्दियों का विश्वास है कि रामानन्द श्रीवैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे जिसके प्रवर्तक थे रामानुजाचार्य। कुछ दिन इस संप्रदाय में रहने के पश्चात् रामानन्द इसके कठोर नियमों से क्षुब्ध हो गये और उन्होंने अपना प्रथक संप्रदाय स्थापित कर लिया। परन्तु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतमें उनकी आस्था बराबर वैसी ही बनी रही। इस बात पर भक्तमाल के लेखक नाभाजी ने भी संकेत किया है। परन्तु रामानन्द कट्टर विशिष्टाद्वैतवादी भी नहीं थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि उनके संप्रदाय के मान्यग्रंथ अद्वैतवादी रामकथा ग्रंथ, अध्यात्म रामायण और अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संहिता हैं। तुलसी और कबीर दोनों के काव्य में निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा भी है और द्वैत का पोषण भी है, यद्यपि भक्ति-भावना के कारण स्थान-स्थान पर विशिष्टाद्वैत की झलक

आ जाती है। यदि हम कहें कि वे सिद्धान्त के लिये अद्वैतवादी और भक्ति के लिये विशिष्टाद्वैतवादी हैं, तो भी ठीक होगा। इनमें से कबीर ने अद्वैत पर अधिक बल दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर का युग दार्शनिक और धार्मिक आन्दोलनों का युग था। शंकर के मायावाद से साधारण जनता भी परिचित हो चुकी थी और राजनैतिक प्रतिबन्धों ने उसको निरुत्साही बना दिया था। वह संसार को माया कह कर चलना चाहती थी। यह मनुष्यदेह इसीलिए मिली है कि परलोक-धन का संग्रह किया जाय—इस प्रकार की परलोकमुखी भावनाओं का प्राधान्य था। उधर दक्षिण के आचार्यों ने भक्ति का प्रचार किया और अपने दर्शन का आधार शंकर को बनाते हुए भी उनके मायावाद का तीव्र विरोध किया। रामानुज से लेकर रामानन्द तक कई पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। शंकर का ब्रह्म निर्गुण निष्क्रिय था। योगी इसी प्रकार के ब्रह्म को अलख निरञ्जन आदि नामों से पुकारते थे, यद्यपि वे साधना के लिये शिवशक्ति के रूप को भी ग्रहण करते थे। कबीर ने इन्हीं का आश्रय लेकर निर्गुण (अनिर्वचनीय ब्रह्म) की स्थापना की। परन्तु वे रामानन्द की भक्ति से भी प्रभावित हुए। इस प्रकार उनमें योग, अद्वैत और विशिष्टाद्वैती भक्ति का अद्भुत सामञ्जस्य हुआ।

कबीर के भक्तिवाद में नामस्मरण का महत्त्व सबसे अधिक है। भावना निर्गुण होने के कारण ध्यान-धारणा, पद-सेवा आदि का तो स्थान ही नहीं है। अतः एक नामस्मरण ही सब कुछ है। नामस्मरण को जितना महत्त्व यहाँ मिला है, उतना कहीं नहीं, यद्यपि तुलसी ने भी नाम को ब्रह्म राम से बड़ा माना है। कबीर की मुख्य भावना यही नामस्मरण है। वे कहते हैं—

कबीर सुमिरण सार है और सकल जञ्जाल
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल

इस नामस्मरण के साथ स्नेह (प्रेम भक्ति) की प्राप्ति भी ध्येय है। कबीर कहते हैं--

कमोदिनी जलहर बसै चन्दा बसै अकास
जो जाही करि भावना सो ताही के पास

सच तो यह है कि कबीर ने स्पष्ट रूप से निर्गुण को अपनाया, यही नहीं उन्होंने सगुण राम के स्थान पर निर्गुण को स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने योग-साधना के सहज रूप को भी ग्रहण किया। इस प्रकार उन्होंने निर्गुणोन्मुखी ज्ञानाश्रयी अद्वैत भक्ति को जन्म दिया और अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिये भक्ति और योग की सहज साधना को स्वीकार किया। उस भक्ति में विरहासक्ति की मात्रा इतनी अधिक है कि उसमें और सूफ़ियों के इश्क में कोई अन्तर नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सूफ़ियों के प्रभाव के कारण था। अधिक सम्भव है कि यह वैष्णव भक्तिपंथ का अधिक विकसित रूप है—केवल विशेष परिस्थितियों के कारण उसका रूप-रंग कुछ भिन्न हो गया है। वैष्णव-भावना की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है व्यक्तिगत ईश्वर (राम-कृष्ण, की कल्पना और उसकी भक्ति) कबीर निर्गुण के उपासक हैं, परन्तु अनेक पदों में उन्होंने इसी निर्गुण से व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध जोड़ लिया है। कभी वे हरि को "जननी" कहते हैं—

हरि जननी मैं बालक तोरा। काहे न औगुन बगसहु मोरा।
सुत अपराध करै दिन केते। जननी के चित रहै न तेते ॥
यह गहि केस करै जो घाता। तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर इक बुद्धि विचारी। बालक दुखी दुखी महतारी ॥
(क० ग्रं०, १११)

कभी वे अपने को "राम" की बहुरिया मानते हैं और हरि को स्वामी—

हरि मेरा पीव भाई हरि मेरा पीव
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव (वही, ११७) ॥

परन्तु मूल भावना में कोई अन्तर नहीं है। तुलसी की तरह कबीर भी कहते हैं—

जरि जाव ऐसा जीवना राम सूँ प्रीति न होई
(वही, १२१)

इस राम के साथ अनन्य भक्ति चाहिये--

सौ बरसों भक्ति करैं इन दिन पूजै आन।
सो अपराधी आत्मा परि चौरासी खान॥
कामी तरै क्रोधी तरै लोभी तरै अनन्त।
आन उपासी कृतघ्नी तरै न गुरू कहत॥

इस भक्ति का रूप है आत्मसमर्पण या शरणागति। कबीर कहते हैं--

राम राइ सो गति भई हमारी, मोसै छूटत नहिं संसारी॥
ज्यूँ पंखी उड़ि जाइ आकासा, आस रही मन माहीं।
छूटी न आस टूट्यो नहीं फंधा, उड़िबै लागो काँहीं।
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै॥
कुंजर ज्युँ कस्तूरी का मृग, आपै आप बँधावै।
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी॥
हत भैभीत डरौं जमदूतनि, आये सरना तुम्हारो।

कबीर क्या मैं चिन्त हूँ, मत चिन्तै क्या होय।
मेरी चिन्ता हरि करैं, चिन्ता मोहि न कोय॥
अंडा पालै काछुई, बिन थन राखै पोख।
यों करता सबकी करै, पालै तीनिउ लोक॥

यह आत्म-समर्पण इसलिए कि भक्त को ईश्वर की अनुकम्पा में विश्वास है--

माधौ, अब करिहौ दाया।
काम क्रोध अहंकार व्यापै, ना छूटै माया॥
उतपति ब्यंद भयो जो दिन थैं, कबहूँ सच नहिं पायौ।

परन्तु मूल भावना में कोई अन्तर नहीं है। तुलसी की तरह कबीर भी कहते हैं—

जरि जाव ऐसा जीवना राम सूँ प्रीति न होई
(वही, १२१)

इस राम के साथ अनन्य भक्ति चाहिये--

सौ बरसों भक्ति करैं इन दिन पूजे आन।
सो अपराधी आत्मा परि चौरासी खान॥
कामी तरै क्रोधी तरै लोभी तरै अनन्त।
आन उपासी कृतघ्नी तरै न गुरू कहत॥

इस भक्ति का रूप है आत्मसमर्पण या शरणागति। कबीर कहते हैं--

राम राइ सो गति भई हमारी, मोसै छूटत नहिं संसारी॥
ज्यूँ पंखी उड़ि जाइ आकासा, आस रही मन माहीं।
छूटी न आस टूट्यो नहीं फंधा, उड़िबै लागो काँही।
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै॥
कुंजर ज्युँ कस्तूरी का मृग, आपै आप बँधावै।
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी॥
हत भैभीत डरौं जमदूतनि, आये सरना तुम्हारो।

कबीर क्या मैं चिन्त हूँ, मत चिन्तै क्या होय।
मेरी चिन्ता हरि करैं, चिन्ता मोहि न कोय॥
अंडा पालै काछुई, बिन थन राखै पोख।
यों करता सबकी करै, पालै तीनिउ लोक॥

यह आत्म-समर्पण इसलिए कि भक्त को ईश्वर की अनुकम्पा में विश्वास है--

माधौ, अब करिहौ दाया।
काम क्रोध अहंकार व्यापै, ना छूटै माया॥
उतपति ब्यंद भयो जो दिन थैं, कबहूँ सच नहिं पायौ।

माया है दुइ भाँति की, देखी ठोंक बजाय
एक मिलावै नाम से, एक नरक ले जाय

इस भक्ति की प्राप्ति के साधन हैं—

(१) गुरु-भक्ति—

गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी वा गुरू की जिन गोविंद दिया दिखाय
सतगुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपकार
लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार
गुरु साहब सो एक हैं, दूजा सब आकार
आपा मेरै गुरु भजै, तब पावै करतार

(२) नाम-कीर्तन—

राम राम सब कोइ कहै, नाम न चीन्हे कोइ
नाम चीन्हे सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोइ
सत्त नाम के सुमिरने उधरै पतित अनेक
कह कबीर नहिं छाड़िये सत्त नाम की टेक
है हरि भजन को प्रवान
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान
भजन को परताप ऐसो, तिरे जल पाखान
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात दिवान
(३०८)

वैष्णव भावना (भक्ति) का एक दूसरा महत्वपूर्ण अंग है—इष्टदेव के प्रति रति की भावना। कबीर के काव्य में प्रीति-रति के अनेक पद मिलते हैं, जिनमें मानसिक संयोग-वियोग का वर्णन है—

बहुत दिनन थै मैं प्रीतम पाये
भाग बड़े घरि बैठे आये ॥ टेक ॥
मंगलाचार माँहि मन राखौं, राम रसाइण रसना चाषौं
मंदिर माँहि भया उजयारा, ले सूती अपना पीव पियारा

माया है दुइ भाँति की, देखी ठोंक बजाय
एक मिलावै नाम से, एक नरक लै जाय

इस भक्ति की प्राप्ति के साधन हैं--

(१) गुरु-भक्ति—

गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी वा गुरू की जिन गोविंद दिया दिखाय
सतगुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपकार
लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार
गुरु साहब सो एक हैं, दूजा सब आकार
आपा मेरै गुरु भजै, तब पावै करतार

(२) नाम-कीर्तन—

राम राम सब कोइ कहै, नाम न चीन्हे कोइ
नाम चीन्हे सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोइ
सत्त नाम के सुमिरने उधरै पतित अनेक
कह कबीर नहिं छाड़िये सत्त नाम की टेक
है हरि भजन को प्रवान
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान
भजन को परताप ऐसो, तिरे जल पाखान
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात दिवान
(३०८)

वैष्णव भावना (भक्ति) का एक दूसरा महत्वपूर्ण अंग है—इष्टदेव के प्रति रति की भावना। कबीर के काव्य में प्रीति-रति के अनेक पद मिलते हैं, जिनमें मानसिक संयोग-वियोग का वर्णन है—

बहुत दिनन थै मैं प्रीतम पाये
भाग बड़े घरि बैठे आये ॥ टेक ॥
मंगलाचार माँहि मन राखौं, राम रसाइण रसना चापौं
मंदिर माँहि भया उजयारा, ले सूती अपना पीव पियारा

पर यह पता लगेगा कि कितनी ही बातों में साम्य है। उनमें कंचन-कामिनी के विषय में भी साम्य है।

वास्तव में कबीर सगुण भक्ति-भावना से अपरिचित नहीं थे जिसने उनके समय तक बहुत कुछ लोक-भावना का रूप ग्रहण कर लिया था, यद्यपि अभी वैष्णव भक्ति के प्रमुख आन्दोलन भविष्य के गर्भ में ही थे। परन्तु वैष्णव-भावनाओं को निभाते हुए भी कबीर ने उस वास्तविक परिस्थिति से लोगों को परिचित कराया जिसका उन्हें ज्ञान नहीं था। सारा लोक-जीवन परम्परागत रूढ़िवाद पर खड़ा था, कबीर ने सुकरात की तरह प्रश्न करके उसका खोखलापन उसे दिखाया। यह धार्मिक भावना को ज्ञानमूलक ऊँचे धरातल पर उठाने के प्रयत्न में लगे थे। उनका दृष्टिकोण सूर और तुलसी के ठीक विपरीत था। सूर कहते हैं, "अविगत गति कछु समझि न आवै × × ताते सूर सगुन पद गावे।" तुलसी भी निर्गुण के ज्ञान को दुस्साध्य मानकर साकार तक उतर आते हैं। कबीर ने इस प्रकार जन-भावना को मस्तक झुकाना अस्वीकार कर दिया। वे तुलसी की तरह सामंजस्यवादी और समन्वयवादी तो थे ही नहीं। यदि लोक-भावना को परिष्कृत करने के विचार से उसका विरोध भी करना पड़ा, तो कबीर उसपर अटल रहे। वास्तव में परवर्ती भक्त-कवियों की भावनाओं में और कबीर की भावनाओं में दृष्टिकोण का ही अन्तर है। अपने अन्तरतम में वे भी उतने ही वैष्णव हैं परन्तु ज्ञान के आधार पर वे अवतारवाद का विरोध करते हैं जो जनता में प्रचलित था। नहीं तो उनकी भक्ति-भावना और उनके विचारों में वैष्णव-साहित्य का ही मूल वर्तमान है—

गुरु-सेवा ते भगति कमाई। तब इह मानस देही पाई॥
इस देही का सिमरहि देव। सो देही भुज हरि की सेव॥
अजहुँ गुविन्द भूलि मत जाहु। मानस जनम का एही लाहु॥
जब लग जरा रोग नहिं आया। जब लग काल ग्रसी नहिं काया॥

मैं रमि रासि जे बिधि पाई, हमहीं कहा यहुँ तुमहिं बड़ाई
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा
(संयोग)

हौं बलिमाँ कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोंहि ॥ टेक ॥
नैन हमारे तुम्हकूँ चाहै, रती न मानै हारि।
बिरह अगिन तन अधिक जरावै, लेसी लेहु बिचारि ॥
सुनहुँ हमारी दाहि गुसाईं, अब जिन करहु बधीर
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भाँड़ै नीर
बहुत दिनन के बिछुरै माधौ, मन नहिं बाँधै धीर
देह छता तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर
(विप्रलंभ)

कबीर के वे पद जिनमें वैष्णव-भावना है या तो प्रीति-रति के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, या शांत-रति के। संत-साहित्य में भी सगुण वैष्णव साहित्य की तरह सांसारिक विषयों के त्याग की महिमा गाई गई है, परन्तु उसका संदेश वैराग्य नहीं। रति और विरति सापेक्ष भाव हैं। भगवान से रति, 'संसार' से विरति। यहाँ "संसार" का तात्पर्य सांसारिक प्रपंच में मन की आसक्ति है—वैसे कबीर (जो संत-संप्रदाय के प्रवर्तक हैं) आयु भर गृहस्थ रहे, अपना जुलाहे का पेशा करते रहे। इस प्रकार कबीर का साहित्य वैष्णव-साहित्य की तरह रति-मूलक है, विरति-मूलक नहीं। सच तो यह है कि कबीर ने जो नारी, कंचन आदि की निंदा की है उससे यह भ्रम हो गया है कि उनका साहित्य वैराग्य का साहित्य है। साधारण रूप से सारे संत-साहित्य के संबंध में यही भ्रम है। परन्तु वास्तव में सारे वैष्णव सगुण भक्ति-साहित्य में इनकी निन्दा है। यहाँ नारी का अर्थ है आसक्ति, कंचन का अर्थ है धनमद। मध्ययुग की वैष्णव-भक्ति के प्रधान ग्रंथ भागवत में भी इनकी निन्दा कम नहीं है। भागवत से कबीर के काव्य की तुलना करने

पर यह पता लगेगा कि कितनी ही बातों में साम्य है। उनमें कंचन-कामिनी के विषय में भी साम्य है।

वास्तव में कबीर सगुण भक्ति-भावना से अपरिचित नहीं थे जिसने उनके समय तक बहुत कुछ लोक-भावना का रूप ग्रहण कर लिया था, यद्यपि अभी वैष्णव भक्ति के प्रमुख आन्दोलन भविष्य के गर्भ में ही थे। परन्तु वैष्णव-भावनाओं को निभाते हुए भी कबीर ने उस वास्तविक परिस्थिति से लोगों को परिचित कराया जिसका उन्हें ज्ञान नहीं था। सारा लोक-जीवन परम्परागत रूढ़िवाद पर खड़ा था, कबीर ने सुकरात की तरह प्रश्न करके उसका खोखलापन उसे दिखाया। यह धार्मिक भावना को ज्ञानमूलक ऊँचे धरातल पर उठाने के प्रयत्न में लगे थे। उनका दृष्टिकोण सूर और तुलसी के ठीक विपरीत था। सूर कहते हैं, "अविगत गति कछु समझि न आवै × × ताते सूर सगुन पद गावे।" तुलसी भी निर्गुण के ज्ञान को दुस्साध्य मानकर साकार तक उतर आते हैं। कबीर ने इस प्रकार जन-भावना को मस्तक झुकाना अस्वीकार कर दिया। वे तुलसी की तरह सामंजस्यवादी और समन्वयवादी तो थे ही नहीं। यदि लोक-भावना को परिष्कृत करने के विचार से उसका विरोध भी करना पड़ा, तो कबीर उसपर अटल रहे। वास्तव में परवर्ती भक्त-कवियों की भावनाओं में और कबीर की भावनाओं में दृष्टिकोण का ही अन्तर है। अपने अन्तरतम में वे भी उतने ही वैष्णव हैं परन्तु ज्ञान के आधार पर वे अवतारवाद का विरोध करते हैं जो जनता में प्रचलित था। नहीं तो उनकी भक्ति-भावना और उनके विचारों में वैष्णव-साहित्य का ही मूल वर्तमान है—

गुरु-सेवा ते भगति कमाई। तब इह मानस देही पाई॥
इस देही का सिमरहि देव। सो देही भुज हरि की सेव॥
अजहुँ गुविन्द भूलि मत जाहु। मानस जनम का एही लाहु॥
जब लग जरा रोग नहिं आया। जब लग काल ग्रसी नहिं काया॥

जब लगि बिकल भई नहिं बानी। भजि लेहि रे मन सारंगपानी ॥
अब न भजसि-भजसि कब भाई। आवै अंत न भजिआ जाई ॥
जो किछु करहि सोई-अबिसारू। फिर पछताहु न पावहु पारू ॥
(परिशिष्ट ३४)

गोविन्द हम ऐसे अपराधी
जिन प्रभु जीव पिंड था दीया तिनकी भावभगति नहिं साधी।
परधन परतिन परतिय निन्दा पर अपवाद न छूटै।
आवागमन होत क पुनि-पुनि इहु परसंग न छूटै ॥
जिह घर कथा होत हरि संतन इके निमिष न कीनै फेरा।
लंपट चोर धूत मतवारे तिन संगि सदा बसेरा ॥
काम क्रोध माया मद मत्सर एहि सभै मो पाँहीं।
दया धर्म औ गुरू की सेवा ए सुपनंतरि नाहीं ॥
दीन दयाल कृपाल दमोदर भगतिबछल मैं हारी।
कहत कबीर भीर जनि राखहु हरि सेवा करौ तुमारी ॥
(वही, ५०)

कबीर का युग मान्यता का युग था। उसमें कबीर ने पग-पग पर प्रश्न किये और जनता में प्रचलित मतवाद को चोट लगा कर उसे ऊर्ध्व-मूल करने की चेष्टा की। यही उनके काव्यं की शक्ति, प्रभाव और श्रेष्ठता का कारण है। बाद में वैष्णव मतवाद को सुस्पष्ट रूप देने में उनकी चोटों ने बहुत काम किया।

विद्यापति की भक्ति-भावना पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि १२-१३वीं शताब्दी में वैष्णव-भक्ति का रूप बहुत कुछ निश्चित हो चला था। इस भक्ति के अनेक आराध्यदेव थे। बंगाल में राधा-कृष्ण और देवी की उपासना प्रचलित हो रही थी। दक्षिण में शिव-भक्ति की धारा बड़े बल से बह रही थी। गुजरात में कृष्ण और विठोवा की भक्ति पर बल दिया जाता था। सारे उत्तर भारत में राम, कृष्ण, नारायण और शिव के भक्त अपने-अपने मतों के प्रचार में लगे थे।

कबीर के समय तक आते-आते वैष्णव मतवाद की भक्ति की अब इतना विकसित हो चुका था कि उसकी उपेक्षा असंभव थी। संतों ने अवतारवाद को ग्रहण किया। यह अवतारवाद ही वैष्णव-भक्ति के मूल में था। परन्तु वे वैष्णवों की भक्ति-भावना से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। उन्होंने वैष्णवों के राम-कृष्ण को निर्गुण अर्थ में प्रयुक्त किया और उनकी भक्ति को नया रूप दिया। कबीर दाशरथि राम में ब्रह्म या विष्णु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते परंतु अपने को निर्गुण राम की बहुरिया मान कर उनके प्रति उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं।

(१) निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई ॥ टेक ॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना, नौ व्याकरना मरम न जाना।
सेसनाग जाकै गरुड़ समाना, चरन कवल कवला नहिं जाना ॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं, निज जन बैठे हरि की छाँहीं।

(२) प्यारे राम मन ही मना
कासूं कहूँ कहन कौं नाहीं दूसर और जना ॥ टेक ॥

इस प्रकार संतों की निर्गुण-भावना सगुण-भक्तिधारा के प्रभाव के कारण पूर्णत शुद्ध नहीं रह सकी। यही विरोधी भावनाएँ—एक ओर निर्गुण, दूसरी ओर भक्ति—आलोचकों को भ्रम में डाल देती है और वे संत-कवियों पर अस्पष्टता का लांछन लगाते हैं। वस्तुतः मध्ययुग की निर्गुण भावना को औपनिषदिक निर्गुण भावना की परिभाषा से ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता। वह निर्गुण इसी हद तक है कि उसमें अवतारवाद की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, परन्तु संतों का निर्गुण ब्रह्म अरूप अव्यक्त होते हुए भी प्रेममय, भक्त-वत्सल और करुणार्द्र है। उसे पारिभाषिक विशेषणों से नहीं तौला जा सकता।

निर्गुण-काव्य की निर्गुण-भावना कालांतर में सगुण भक्ति-काव्य-भावना के धरातल पर आ गई। इसके कई कारण थे। संतों

के "राम" का निर्गुण परिभाषा में प्रयोग एक भूल थी। साधारण जनता राम को अवतार समझती थी। रामभक्ति के प्रचार के साथ "राम" का निर्गुण रूप शीघ्र ही लुप्त हो गया। कम से कम वह संत-संप्रदायों के बाहर ग्राह्य नहीं हुआ। स्वयं संत-संप्रदाय में "राम" द्विअर्थक रूप में प्रयोग में आने लगा। इसके कारण थे--

१--साधारण सगुणोपासक जन-भावना का प्रभाव

२--सगुण भक्तिधारा का प्रभाव

३--संतों की विरह की तन्मयता ने उनके निर्गुण आराध्य को सगुणवाद के धरातल पर पहुँचा दिया। स्वयं कबीर के काव्य में हमें अपरोक्ष रूप में रूप-गुण-स्थापन का भ्रम होने लगता है।

४--मूल संत-भावना स्वयं औपनिषदिक निर्गुण और पौराणिक सगुण मतों का विचित्र मिश्रण था। दादू के अनेक पदों को सगुणोपासक भक्ति-कवियों के सम्मुख रखा जा सकता है, जैसे

हमारे तुम्हीं हो रखपाल

तुम बिन और नहीं कोउ मेरे भौ दुख मेटनहार
वैरी पञ्च निमस नहिं न्यारे रोकि रहे जमजाल
हा जगदीस दास दुखपावै स्वामी करौ सँभाल
तुम बिन राम दहै ये दुन्दर दसौ दिसा सब काल
देखत दीन दुखी क्यों कीजे तुम हौ दीन दयाल
निर्भय नाँव हेत हरि दीजे दरसन परसन लाल
दादू दीन लीन करि लीजै, मेटहु सबै जञ्जाल

हरि रसमाते मगन भये

सुमिर-सुमिर भये मतवाले, जामण मरण सब भूलि गये
निर्मल भगति प्रेम रस पीवै आन न दूजा भाव धरैं
सहजै सदा राम रङ्ग राते मुकति वैकुँठे कहा करैं
गाइ गाइ रसलीन भये हैं, कहूँ न माँगै सन्त जनाँ
और अनेक देहु दत आगै आन न भावे राम विनाँ

इकटक ध्यान रहै तभी लागे छाकि पड़े हरि रस पीवै
दादू मगन रहैं रसमाते, ऐसै हरि के जन जीवैं

सुन्दर तो काशीनिवासी ही थे। संस्कृत-साहित्य से परिचय एवं सगुण भक्तों के सत्संग के कारण सुन्दर के काव्य में पौराणिक हिन्दू धर्म-दर्शन भी प्रर्याप्त मात्रा में उपस्थित है, परन्तु साथ ही उसमें संत-मत के लगभग सभी अंगों पर ज्ञानमूलक प्रकाश भी डाला गया है। वास्तव में सगुण और निर्गुण विचारधारा में बराबर समन्वय होता गया है। जगजीवन साहिब के काव्य में तो वैष्णव काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ--भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण और आत्मग्लानि—इतनी अधिक मात्रा में मिलती हैं कि उनका काव्य वैष्णव काव्य-साहित्य में (विशेषकर तुलसी सूर के विनय-पदों में) बड़ी सरलता से खपाया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते संतकाव्य को इतना साम्प्रदायिक रूप मिल गया था और जन-भावना (वैष्णव-भक्ति) का इतना अधिक समावेश हो गया था कि वह वैष्णव-काव्य का ही प्रकारान्तर समझा जाने लगा। चरणदास की शिष्याओं दया-बाई और सहजोबाई में तो हम मीरा की कृष्ण-भावना और निर्गुण-मतवाद का अभिन्न सम्बन्ध पाते हैं।

(ग) सूरदास

कृष्ण-भक्त कवियों में, सूरदास सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तों के लिए सूर का प्रत्येक पद भगवत्साक्षात्कार में सहायक है। वैसे कवि की दृष्टि से भी सूरदास का अत्यंत ऊँचा स्थान है, परंतु जहाँ केवल भक्ति-भावना ग्रहण करने की बात है, अव्यभिचारिणी भक्ति है, वहाँ 'काव्य किस कोटि का है,' यह प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु उच्च कोटि का काव्य निश्चय ही भक्ति-भावना को अधिक ऊँची भूमि पर प्रतिष्ठित करने में सहायक होगा।

सूर की भक्ति के आलंबन कृष्ण हैं, स्वयं सूर भक्ति के आश्रय हैं, कृष्ण के रूप-गुण और उनकी लीलायें उद्दीपन विभाव हैं।

सूर के इस आलंबन का रूप क्या है? सूरदास के कृष्ण अविगत हैं, मन-वाणी को अगम-अगोचर हैं। वास्तव में वे उसी तरह परब्रह्म हैं जिस तरह तुलसी के राम। जहाँ राम परब्रह्म भी हैं और परब्रह्म के अवतार दाशरथि राम भी हैं, वहाँ सूर और आगे बढ़कर कृष्ण को परब्रह्म से उतरकर कुछ भी मानने को तैयार नहीं हैं। उनके कृष्ण गोपियों से स्वयं कहते हैं—

को माता को पिता हमारे
कब जनमत हमको तुम देख्यो हँसी लगत सुनि बात तुम्हारे
कब माखन चोरो करि खायो कब बांधे महतारी
दुहत कौन की गैया चारत बात कही यह भारी

परंतु सूर जानते हैं कि इन निर्गुण, अनादि, अनन्त परब्रह्म कृष्ण से भक्ति का संबन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। वे गोपियों के मुँह से कहलाते हैं—

कान्ह कहाँ की बात चलावत।
स्वर्ग पताल एक करि राखौ युवतिन को कहि कहा बतावत?

गोपियों की तरह सूरदास भी परब्रह्म कृष्ण की अनुमोदनता स्वीकार कर लेते हैं और अपने काव्य का आरम्भ इसी स्वीकृति से करते हैं—

अविगत-गति कछु कहत न आवै
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै
परम स्वाद सब हीजु निरंतर अमित तोष उपजावै
मन-बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै
रूप-रेख-गुण-जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै
सब विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन पद गावै

अतः सूरदास परब्रह्म कृष्ण को पहचानते हुए भी उनके सगुण रूप के रहस्यात्मक स्वरूप की कल्पना से ही परिचालित हैं।

यह भगवान भक्त के हेतु अवतार धारण करते हैं। यही लीला का महत्व है। यही उसका रहस्य है—

भक्त हेतु अवतार धर्‍यो
धर्म कर्म के बस मैं नाहीं योग जाप मन मैं न कर्‍यो
दीन गुहारि सुनौ श्रवणनि भरि गर्व वचन सुनि हृदय जर्‍यो
भाव अधीन रहौ सब ही के और न काहू नेके डरौं
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक सबही सुख दै दुखहि हरौं
सूर श्याम तब कहौ प्रगट ही जहाँ भाव तहँ ते न टरौं

इसीलिए भक्त और भगवान का प्रेम और भाव का नाता है जिसे दोनों को अपनी ओर से निभाना है। भक्त अनन्य भाव से भगवान से प्रेम करता है :—

स्याम बलराम को सदा गाऊँ
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव को स्वप्न हूँ माँहि नहिं हृदय लगाऊँ
यहै जप यहै तप यहै मम नेम व्रत यहै मम प्रेमफल यहै ध्याऊँ
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूरप्रभु देहु हौ यहै पाऊँ

इस प्रेम का रूप है आत्म-समर्पण और शरणागति भाव—

जौ हम भले बुरे तो तेरे
तुम्हैं हमारी लाज बिड़ाई बिनती सुनि प्रभु मेरे
सब तजि तुम सरनागत आयो, दृढ़ करि चरन गहे रे

या—

मेरी तौ गतिमति तुम अनतहिं दुख पाऊँ
हौं कहाय तेरौ अब कौन को कहाऊँ ?
कामधेनु छाँड़ि कहा अजा लै दुहाऊँ !
हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि धाऊँ !

इसी प्रकार—

तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?
काकै द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर, हथ कहाँ विकाऊँ
ऐसो को दाता है समरथ जाके दिये अवाऊँ
अन्तकाल तुम्हरैं सुमिरन गति अनंत कहूँ नहिं पाऊँ
रंक सुदामा कियो अजाची, दियौ अभय पद ठाऊँ
कामधेनु, चिन्तामनि, दीन्हौ कलप वृक्ष तर छाऊँ
भव समुद्र अति देखि भयानक मन मैं अधिक डराऊँ
कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन सूरदास बलि जाऊँ

परन्तु केवल भक्त की ओर से चेष्टा होने पर ही सब कुछ नहीं हो जाता। इष्टदेव की कृपा भी तो चाहिये। सच तो यह है कि इस कृपा के विना भक्ति अंकुरित ही नहीं हो सकती। भक्त की ओर से सदाचार और शुद्धाचरण तभी काम कर सकते हैं जब भगवान की अनुकंपा मिले, नहीं तो वह उनमें सफल हो ही नहीं सकता। पुष्टि-मार्ग में इस भगवान के अनुग्रह को विशेष स्थान मिला है; वैसे प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय में भगवान की भक्त-वत्सलता और उनकी अनुकंपा पर विश्वास किया गया है। पुष्टि-मार्ग में इस अनुग्रह को "पुष्टि" कहा गया है जिससे भक्तों का पोषण होता है। भगवान के अनुग्रह के कारण ही भक्त की भावना का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। सूरदास कहते हैं—

प्रभु को देखो एक सुभाइ
अति गंभीर उदार उदधि हरि जान सिरोमन काह
तिनका सौं अपने जन को गुन मानत मेरु समान
सकुचि गनत अपराध समुद्रहि बूँद-तुल्य भगवान
वदन प्रसन्न-कमल सम्मुख ह्वै देखतु हौं हरि जैसे
विमुख भये अकृपा न निमिप हूँ फिरि चितयौं तौ तैसें

सूरदास ने अपने विनयपदों में वार-वार भगवान की अनुकंपा

और भक्त-वत्सलता का गुण-गान किया है। इस अनुकंपा में विश्वास के विना भक्ति एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती।

परन्तु साधना के अंत में भक्त क्या चाहता है—क्या मुक्ति ? ऐसा नहीं है। भक्त तो निरंतर भक्ति की ही याचना करता है। सूरदास कहते हैं—

अपनी भक्ति देहु भगवान
कोटि लालच जो दिखावहुँ नाहिनै रुचि आन

गोपियाँ उद्धव से तर्क-वितर्क न कर कहती हैं—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति
हृदय तैं वह श्याम मूरति छन न इत-उत जाति
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय ?
स्यामगात सरोज आनन ललित अति मृदु हास
सूर ऐसे रूप कारन भाल लोचन प्यास

और—

वै अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं
योग मुक्ति औ मुक्ति विविध विधि वर मुरली पर वारौं

इस भक्ति के साधन क्या हैं—

(क) नाम कीर्तन

भागवत में कहा है—"कलौ केशव कीर्तनात्।" सूरदास कहते हैं—

तुम्हरो नाम तजि प्रभु जगदीसर सुतौ कहौ मेरे और कहा बल
बुधि-विवेक अनुमान आपनैं सोधि कह्यो सब सुकृतनि कौ फल

वेद पुरान स्मृति सन्तन कौ यह अधार मीन को ज्यौं जल
अष्टसिद्धि, नवनिधि, सुरसंपति, तम विनु तस कन कहु न कछु तल
अजामील, गनिका, जु व्याध, नृग जासों जगधि तरे ऐसेउ खल
सोइ प्रसाद सूरहिं अब दीजै नहीं वहुत तो अंत एक पल

अथवा—

जो तू राम-नाम धन धरतौ
अब कौ जनम, आगिलो तेरो, दोऊ जनम सुधरतौ
जम को त्रास सबै मिट जातौ भक्त नाम तेरो परतौ
तंदुल-घिरत समर्पि स्याम कौ संत परोसौ करतौ
हौ तौ नफा साधु की संगति मूल गाँठि नहिं टरतौ
सूरदास वैकुण्ठ पैठ में कोउ न पैर पकरतौ

(ख) गुरु-भक्ति

पुष्टि-मार्ग में गुरु और कृष्ण का एक ही स्थान है। गुरु ही जीव का ब्रह्म-सम्बन्ध कराता है। गुरु को कृष्ण मान कर भक्त उसे आत्म-समर्पण कर देता है। सूर के प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सूर का अंत समय आ पहुँचा था। उस समय चतुर्भुजदास ने कहा—"सूरदास, तुमने भगवत्यश का वर्णन तो किया, परन्तु आचार्य महा-प्रभून का जस-वर्णन नहीं किया।" सूरदास ने कहा—"जु मैंने तो सारा ही आचार्य महाप्रभु को यश ही गाया है। जो विलग देखता तो विलग करता।" यह कह कर उन्होंने यह पद गाया—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो
श्रीवल्लभ नखचंद्र छटा विनु सब जग माहिं अँधेरौ
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरौ
सूर कहा कहि दुबिधि आँधरो बिना मोल को चेरौ

(ग) लीलागान

सारा सूरसागर ही कृष्ण-लीला का गान है।

(घ) नित्य और नैमित्तिक कर्म

इनके संबन्ध में अन्य स्थान पर लिखा जा चुका है।

(ङ) भगवान के रूप का ध्यान

सूर के काव्य में भगवान के बाल और किशोर-रूप के अनेक चित्र हैं। उन्होंने उन्हें सैकड़ों परिस्थितियों में देखा है और उनका ध्यान किया है—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत
मणिमय कनक नंद के आँगन मुख प्रतिबिम्ब पकरिबेहि धावत
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को कर सों पकरन को चित चाहत
किलकि हँसत राजत हैं दँतिया पुनि-पुनि तिहि अवगाहत
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा एक राजत
कर कर प्रति पद प्रति मनि बसुधा कमल-बैठकी साजत
बाल दशा सुख निरखि यशोदा पुनि-पुनि नंद बुलावत
अचरा तर लै ढाकि सूर के प्रभु को जननी दूधा पियावत
(बाल कृष्ण)

सखी री नंदनंदन देखु
धूरि धूसरि जटा जूटलि हरि किए हर भेनु
नील पाट पुरोइ मणिगण फणिज धोखे जाइ
खुनखुना कर हँसत मोहन नचत डौरूँ बजाइ
जलज माल गोपाल पहिरे कहौं कहा बनाइ
मुंडमाला मनोहर गर ऐसि शोभा पाइ
स्वातिसुत माला विराजत श्याम तन सों भाइ
मनो उमग गौरि उर हर लिए कंठ लगाइ
केहरी के नखहि निरखत रही नारि विचारि
बाल शशि मनो माल तैं लै उर धरयो त्रिपुरारि
(कृष्ण-शंकर)

मुखछबि देखिहो नन्दघरनि
शरद निशि के अंशु अगणित इंदु आभा हरनि
ललित श्रीगोपाल लोचन लोल आँसू ढरनि
मनहुँ वारिज विलखि विभ्रम परे परवश परनि
कनक मणिमय मकर कुंडल ज्योति जगमग करनि
मित्रलोचन मनहुँ आये तरल गति दोउ तरनि
कुटिल कुंतल मधुप मिलि मनौ कियो चाहत लरनि
वदन करति अनूप शोभा सकै सूर न वरनि
(दाँवरी से बाँधे कृष्ण)

देखुरी नंदनंदन ओर
त्रास ते तनु त्रसित थोर हरि तकत आनन तोर
बार-बार डरात तोको बरन बदनहिं थोर
मुकुर मुख दोउ नैन ढारत छणहिं छण छवि छोर
सजल चपल कनीन पलकैं अरुण ऐसे दोर
सरस अंबुज भँवर भीतर भ्रमत है जनु भौर
लकुर के डर देखि जैसे भये शोणित बौर
उर लगाइ विहाय रिस जिय तजहु प्रकृति कठोर
(वही)

आवत उरग नाथे श्याम
नंद यशुदा गोप गोपिनि कहत हैं बलराम
मोर मुकुट विशाल लोचन भुवन कुण्डल लोल
कटि पिताम्बर मेन नटवर नृतत फन प्रति डोल

× × ×

कन्हैया निर्तत फन प्रति ऐसे
मनो गिरिवर पर बादर देखत मोर अनन्दत जैसे

डोलत मुकुट शीश पर कुण्डल मंडित गंड
पीत वसन दामिकि तनु घन पर ता पर सुरकोदंड
(नाग-दमन)

साँवरो मनमोहन माई
देख सखी बनते व्रज आवत सुन्दर नन्दकुमार कन्हाई
मोरपंख शिर मुकुट विराजत मुख मुरली सुरसुभगसुहाई
कुंडल लोल कपोलन की छवि मधुरी बोलनि बरन न जाई
लोचन ललित ललाट भृकुटि बिच ताकि तिलक की रैख बनाई
मनो मर्याद उलंघि अधिक वल उमँगि चली अति सुन्दरताई
कुंचित केश सुरेश वदन पर मानौं मधुप माल घिरि आई
मंद मंद मुसुकात मनौ घन दामिनि हुरि हुरि देत दिखाई
शोभित सूर निकट नासा के अनुपम अधरनि की अरुनाई
जनु शुक्र सुरंग विलोकि बिंवफल माखन कारन चोंच चलाई

देखि री देखि आनंदकंद
चित्त चातक प्रेम घन लोचन चकोरक चंद
चलित कुंडल गंड मंडल झलक ललित कपोल
सुधाकर जनु मकर क्रीड़त इन्दु दहदह डोल
सुभग कर आनन समायैं मुरलिका सहि भाइ
मनो हनै अंभोज भाजन लेन सुधा भराइ
श्याम देह दुकूल दुति छबि लसत तुलसी माल
तड़ित घन संयोग, मानो सेनिका शुक जाल
अलक अविरल चारु हास विला भृकुटी भंग
सूर हरि की निरखि शोभा भई मनसा पंक
(किशोर कृष्ण)

इस किशोर रूप के अनेक वर्णन मिलेंगे।

देख री हरि के चंचल नैन
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन

राजिवदल, इंदीवर, शतदल, कमल, करोशम जाति
निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत, ये विगसे दिन-रात
असन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय
(नैन)

रोमावली रेख अति राजत
सूक्षम शेष धूम की धारा नव फन ऊपर भ्राजत
भृगु पद-रेख श्याम उर सजनी कहा कहौं ज्यौं छाजत
मनहुँ मेघ भीतर शशि की द्युति कोटि कामतनु लाजत
मुक्तामाल नंदनंदन उर अधर सुधाघट कांति
तनु श्रीखंड मेघ उज्ज्वल अति देखि महाबल भाँति
बरही मुकुट इन्द्रधनु मानहु तड़ित दशन छवि छाजत
यकटक रही विलोकि सूर प्रभु तन को है कहा हाजत
(रोमावली)

इसी तरह अन्य अंगों के वर्णन भी हैं। परन्तु सूर जानते हैं कि उनके इष्टदेव लोकनायक नहीं हैं। यह वे पाठक को भी बता देते हैं। वे उनकी सुन्दरता की रहस्यमयता की ओर इंगित करते हैं—

सखी री सुन्दरता को रंग
छिन-छिन माँझ परत छवि औरे कमल नयन के अंग
श्याम सुभग के ऊपर वारौं आलो कोटि अनंग
सूरदास कछु कहत न आवै गिरा भई मति भंग

या उसके अलौकिक प्रभाव की बात कहते हैं—

श्याम अंग युवती निरखि भुलानी
कोउ निरखति कुंडल की आभा यतनेहिं माँझ विकानी
ललित कपोल निरखि कोउ अटकी शिथिल भई ज्यों पानी
देह गहे की सुधि नहिं काहू हरपन को पछतानी
कोउ निरखति अधरन की सोभा फुरत नहीं मुख बानी

कोउ चकृत भई दशन चमक पर चकचौंधी अकुलानी
कोउ निरखति द्युति चिबुक चारु की सूर तरुनि बितानी
यही नहीं सूरदास, सुरतांत छवि को भी नहीं छोड़ते—

सोभा सुभग आनन ओर
त्रास से तनु त्रसित तिरछे चितै देत अकोर
निरखि सन्मुख कियो चाहत बदन विधु की ओर
तुला बिच लोकेश तौले गरुअ आनन गोर
दरशगति रुचि मुदित मनसिज चपल द्दग चकोर
कोसे क्रीड़त मीन मानों नीर नीरज भोर
श्याम सुन्दर नैन युग पर झलक कज्जल कोर
सुधारस संकेत मानों कूप दानव घोर
श्रवण मणि ताटक मंजुल कुटिल कुंतल छोर
मकर संकट काम वापी अलकि फन्दनि डोर
चिकुर अघ नव मोतीमंडल तरल लग द्दग तोर
जनु विध्वंसित व्याल बालक अमी की झक झोर
श्रम स्वेद सीकर गंड मंडित रूप अंबुज कोर
उमँगि हर्षद यों श्रम तज्यो पीयूख कुंभ हिलोर
हसत दशनकि चमक विद्युत लसित कठिन कठोर
मुदित मधु पर विन्दु गन मकरंद मध्य न थोर
निरखि सोभा समर लज्जित यह भयो भ्रम भोर
सूर धन्य सुनव किसोरी धन्य नन्द किसोर

यह स्पष्ट है कि सूर ने संयोग-शृंगार में सुरति आदि की उद्भावना इसलिये की है कि वे एक तो पूर्व परंपरा से परिचालित थे जिसमें इस तरह के प्रसंग वर्जित नहीं थे। उदाहरण के लिये, जयदेव, गोवर्धनाचार्य और विद्यापति के काव्य हैं जो स्वयं शिव-उमा को लेकर चलनेवाली एक पुरानी परंपरा से सहारा लेकर और शिव का स्थान कृष्ण को देकर आगे बढ़ रहे थे; दूसरे इससे वे अपने उपास्यदेव के इतने

निकट आ जाते हैं जितना निकट अन्य प्रसंगों में वे नहीं आ सकते थे। पुष्टि-मार्ग के कृष्ण तो निर्लिप्त हैं, उन्हें तो कोई दोष लगता ही नहीं। वे जो करते हैं भक्त के आनन्द के लिए लीला-मात्र के रूप में। राधा-कृष्ण की रति में भक्त स्वय उनके अधिक निकट आता है। दंपति के निकुंज विहार का ध्यान भी परवर्ती पुष्टि-मार्ग और हितहरिवंश के संप्रदाय के लिए वैध था। इष्टदेव से तादात्म्य स्थापति करने का अर्थ यही है कि भक्त उनके अन्यतम संपर्क में आ जाय।

जो हो, सूरदास के काव्य में नंद-यशोदा, गोपी-गोप, राधा-कृष्ण के हृदयों की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना को गीतवद्ध कर दिया गया है। वात्सल्य, सख्य, प्रेम और विलास से संबंधित मनोविकार मनुष्य की प्रकृति से चिरकाल से मिले हुए हैं, और कदाचित् अंत तक मिले रहेंगे। यही सब मनोविकार सूर के काव्य में आध्यात्मिक साधना के विषय हो सके हैं। उसका एक-एक पद आत्म-जिज्ञासुओं के लिए साक्षात्कार का साधन है। जो काव्य का रस है, वही भक्ति का भी रस हो गया है।

(च) भक्ति का रूप

आलंबन के सौन्दर्य और गुण से चल कर भक्ति का रूप स्थिर होता है। भगवद्विषयक रति के पाँच प्रकार हैं—शांति, प्रीति, प्रेम, अनुकंपा, कान्ता या मधुरा। भक्ति के रूप और काव्य-रस में अत्यंत निकट का सम्बन्ध है जो निम्न तालिका से प्रगट हो जायगा—

भगवत् रति	भक्ति का रूप	काव्य-रस
शांति	शांत	शांतरस
प्रीति	दास्य	दास्यरस
प्रेम	सख्य	सख्यरस
अनुकम्पा	वात्सल्य	वात्सल्य
कांता या मधुरा	मधुर	शृंगार

काव्य में दास्यरस और सख्यरस की व्यवस्था नहीं है, अतः इन रसों की सामग्री को शांतरस के अंतर्गत ही रखेंगे। अन्य रसों की सामग्री इन्हीं रसों के भीतर गौण रूप से उपस्थित की जा सकती है जैसे शांतरस के भीतर रौद्र, भयानक और वीभत्स की सामग्री का समावेश संभव है। दास्य भक्ति में अद्भुत, वीर और करुणरसों की सामग्री उपादेय होगी। श्रृंगार में अद्भुत और हास्य का मेल हो सकता है,परन्तु मुख्य रूप से भगवत रति में शांतरस, वात्सल्य, और श्रृंगार रस की ही व्यवस्था है।

सूर के ग्रंथ में इन सब प्रकारों के उदाहरण मिलेंगे—(१) शांत-भक्ति में वैराग्य की भावना की प्रधानता है, परन्तु यह वैराग्य केवल संसार के प्रति हो सकता है। इष्टदेव के प्रति तो राग रहेगा ही। अतः इस प्रकार की भक्ति का कोई अधिक मूल्य नहीं। सूर की भक्ति शास्त्रीय पद्धति पर नहीं चलती वह पराभक्ति है; रागानुगा भक्ति है। वैधी नहीं; अतः इस भक्ति का स्वरूप उनमें प्रस्फुट नहीं हुआ है यद्यपि विनय के पदों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो शांत भक्ति के अंतर्गत रखे जा सकते हैं, जैसे—

हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे
सुनि मन, कहौं पुकारि तोसों हौं भजि गोपालहिं मेरे
या संसार विनय-त्रिन-सागर रहत सदा सब घेरे
सूरस्याम बिनु अंतकाल में कोहु न आवत नेरे

(२) दास्य भक्ति—महाप्रभु से मिलने से पहले सूर दास्य-भाव भक्त ही थे जैसा वार्ता से पता चलता है। दास्य-भक्ति में विनय और दैन्य-प्रकाशन की प्रधानता है। सूर के विनय-पदों के केन्द्र में यही भावनाएँ हैं, जैसे—

"हरि हौं सब पतितन कौ नायक"
"प्रभु, मैं सब पतितन कौ टीकौ"

तुलसीदास की तरह उन्होंने भी राम के दरबार में पत्रिका भेजी है—

बिनती केहि बिधि प्रभुहि सुनाऊँ
महाराज रघुवीर धीर को समय न कबहूँ पाऊँ
याम रहत यामिनि के बीते तिहि औसर उठि धाऊँ
सकुच होत सुकुमार नींद से कैसे प्रभुहिं जगाऊँ
दिनकर किरण उदित ब्रह्मादिक रुद्रादिक इक ठाऊँ
अगणित भीर अमर मुनिगन की तिहितै ठौर न पाऊँ
उठत सभा दिन मध्य सियापति देखि भीर फिरि आऊ
न्हात खात सुख करत साहिबी कैसे कर अनुसाऊँ
रजनीमुख आवत गुण गावत नारद-डम्बर नाऊँ
तुमही कहा कृपण हौं रघुपति किहि बिधि दुख समझाऊँ
एक उपाय करौं कमलापति कहो तो कहि समझाऊँ
पतित उधारन सूर नाम प्रभु लिख कागद पहुँचाऊँ

वास्तव में तुलसी को "विनयपत्रिका" का बीज यहीं मिला जान पड़ता है।

(३) सख्य-भक्ति—सूरसागर में प्रेम, अनुकम्पा और मधुरारति का ही प्राधान्य है। इसीसे वह सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों का एक बृहद् संग्रह है। सख्य भक्तों का आदर्श गोपों और कृष्ण का सम्बन्ध है। सूर ने भी कृष्ण से प्रधानतय: यही सम्बन्ध स्थापित किया है। इसीसे वे कृष्ण की अति गोपनीय लीलाओं को भी नि:संकोच भाव से कह जाते हैं। इसी सख्य-भावना के कारण सूरदास भगवान से हठ भी कर लेते हैं।

(४) अनुकंपा रति (या वात्सल्य रति)—इसके लिए नंद-यशोदा आदर्श हैं। ग्वालिनें भी यही भाव रखती हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य इसी भक्ति को प्रधानता देते थे। इसीसे 'निरोधलक्षणम्' ग्रंथ में उन्होंने लिखा है—

यच्च दुःख यशोदाय नंदादीना च गौकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्याद् मम कचित्।
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं सम्मुत्तन्ये भगवान् किं विधारयति॥
उद्धवा गमने जात उक्तवर सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा वे मनसि क्वचित॥

नंद-यशोदा और गोपी-ग्वालों के वात्सल्य को संयोग और वियोग दोनों परिस्थितियों में संविस्तृत अंकित कर सूरदास ने स्वयं आध्यात्मिक सुख-दुख की साधना की है जिसकी ओर महाप्रभु ने संकेत किया है। इसीलिए सूर का वात्सल्य रस-सम्बन्धी-काव्य शृंगाररस की संयोग और वियोग दशाओं की भाँति संचारियों और व्यभिचारियों के अनेक भेदों से पुष्ट होकर हमारे सामने आता है।

(४) मधुर भक्ति—भगवद्विषयकरति का सर्वोच्च निवास मधुरारति में है जो मधुर-भक्ति की जननी है। मधुर भाव के उपासक कृष्ण-भक्त राधा-कृष्ण और कृष्ण-गोपियों के प्रेम में सम्मिलित होकर उनकी लीलाओं-क्रीड़ाओं में आनन्द लेते हैं। युगल-दम्पति की प्रत्येक प्रेम-चेष्टा उनके हृदय में एक आनन्द-हिलोर उठा देती है जिसका सुख अनिर्वचनीय है। भक्त स्वयं गोपी बनना चाहता है। गोपियों की तरह वह भी कृष्ण के प्रेम का इच्छुक है। उसे राधा से ईर्ष्या नहीं। वह राधा को धन्य समझता है जो कृष्ण के इतने निकट है। इसी नाते उसे गोपियों से भी प्रेम है। राधा-कृष्ण के मिलन और वियोग की कहानी सूर की मौलिक कल्पना है। केवल इसी एक नवीन उद्भावना के नाते उनका स्थान हिन्दी कवियों में अग्रगण्य होता। राधा-कृष्ण के प्रिय-सम्बन्ध में सूर अपनी आत्मा का अत्यन्त विशद चित्रण कर जाते हैं जिसे कृष्ण के संग में इतना सुख है कि दुःख की लेश-मात्र छाया भी उस पर नहीं पड़ती है और कृष्ण के विरह में सुख का केवल यत्किंचित स्मरण हो आता है। सूर की मधुर भक्ति दो खंडों में प्रगट हुई है :

(क) राधा-कृष्ण प्रेम-प्रसंग

(ख) गोपियों और कृष्ण का प्रेम-प्रसंग

इन्हीं प्रसङ्गों में सूर ने कई अभिनव रूपकों की सृष्टि की है। इसे सूर की कल्पना की उत्कृष्टता ही कहना होगा कि हम इन रूपकों को लीला भी कह सकते हैं और परवर्ती काव्य में उनका प्रयोग इसी रूप में हुआ है। दानलीला, मानलीला, बहु-नायकत्व लीला, पनघट लीला—इन सभी में कवि-भक्त भगवान की लीलाओं का वर्णन करता हुआ परमात्मा और जीवात्मा (भक्त) के सम्बन्धों को स्पष्ट करने में लगा है। इसके अतिरिक्त सूर ने भागवत के रास और भ्रमरगीत के प्रसंगों को अत्यन्त विशद रूप से चित्रित कर कृष्ण के संयोग-वियोग की अभिव्यंजना की एक नवीन शैली ही स्थापित कर दी है। परवर्ती कवियों ने इसी शैली में अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यंजना की है। रासलीला में भक्त भगवान के साथ योग-माया (मुरली) के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करता है। भ्रमरगीत में वह विरह की अन्यतम दशा को पहुँच जाता है और गोपियों के भ्रमर-उपालंभ द्वारा अपने ही विरहाकुल हृदय की बात कहता है। वास्तव में सूरसागर गोपियों और कृष्ण के संयोग-वियोग के रूप में मधुर-भक्ति की वह बृहद् साधना है जिसका जोड़ संसार के भक्ति-काव्य में मिलना असंभव है।

वल्लभाचार्य ने वात्सल्य-भाव को ही एक मात्र उपादेय माना और वे बालकृष्ण के उपासक थे, परन्तु पुष्टि-मार्ग के कवियों ने सख्य और मधुर-भाव को भी अपनाया। इनमें भी माधुर्य-भाव को विशेष रूप से ग्रहण किया गया। सारा कृष्ण-काव्य ही इस तथ्य के समर्थन में उपस्थित किया जा सकता है। इस माधुर्य-भाव की उपासना ने ही कृष्ण-भक्ति को राम-भक्ति के समकक्ष एक विशिष्ट रूप दिया है। नीचे हम देखेंगे कि इस मधुर भाव-भक्ति की विशेषताएँ क्या हैं—

(१) भक्त भगवान के इतना ही निकट है, जितने निकट पति-पत्नी। अतः वह भगवान पर इसी तरह मुग्ध है जिस तरह पत्नी पति पर मुग्ध होती है। भक्ति की सर्वोच्च दशा में तो वह परकीया-भाव का अनुभव करने लगता है—

जब ते सुन्दर वदन निहार्‌यो
ता दिन ते मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकार्‌यो
मात-पिता पति बन्धु सजन जन तिनहूँ को कहिबे सिर धार्‌यो
रही न लोकलाज मुख निरखत दुसह क्रोध फांको करि डार्‌यो
ह्वै वो होय सो होय करम वस अब जी को सब सोच निकार्‌यो
दासी सूरदास परमानँद भयो पोच अपनो न विचार्‌यो

(२) कृष्ण-भक्त मन के संयम के स्थान पर मन को कृष्ण की ओर उन्मुख करता है। यह सच है कि सूर ने विनयपदों में मन के नियमन की चेष्टा की है।

मन तोसौं कितनो कही समुझाइ
नन्दनंदन के चरणकमल भजि तजि पाखंड चतुराइ
सुख-संपति, दारा-सुत, हय-गय, झूठ सबै समुदाइ
छनभंगुर यह सबै श्याम बिनु अंत नाहिं संग जाइ।

परन्तु इन विनय के पदों को सूर ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहले लिखा था। सूर तो मन को सांसारिकता (विषय-वासना) के निम्न स्तरों से उठा कर सहज रूप से कृष्ण में इस तरह लगा देते हैं कि गोपियों के शब्दों में

नाहिन रह्यो मन में ठौर
नंदनंदन अछत नाहिन आनिये उर और

अतएव मधुर-भाव के उपासकों के लिए इन्द्रियों के नियमन का प्रश्न ही नहीं उठता। वे इन्द्रियों को कृष्ण का परिचय कराते हैं जो उन्हें स्वतः अपनी ओर खींच लेते हैं। जब भक्ति की इन्द्रियों का

उस रूप-सिंधु, गुणसिंधु, लीलामय, हास-विलासमय, कृष्ण से परिचय हो जाता है तो वे लौकिक विषयों के आश्रमों की ओर मुड़ कर भी नहीं देखतीं। उनके लिए सारा संसार लोप हो जाता है। जहाँ ऐसा भाव है, वहाँ विधि-निषेध, आचार-विचार, संयम-मर्यादा का स्थान ही कहाँ है ? यही रागानुगा भक्ति है। तुलसी की राम-भक्ति वैधी भक्ति है। वह विधि-निषेध, आचार-विचार, लोक-परलोक सबको समेट कर चलती है। सूरदास की भक्ति-भावना इससे कहीं गहरी है। उसे इनमें से किसी से तात्पर्य ही क्या ! वह तो कृष्ण के सिवा किसी को जानती ही नहीं, फिर इतर वस्तुओं के लिए वह क्यों सोचे ? वास्तव में, कृष्ण-भक्ति में व्यक्ति-गत प्रेम-भावना का सर्वोच्च विकास है। उसने आचार और मर्यादा की उपेक्षा नहीं की, परन्तु उन पर बल भी नहीं दिया। उसने मन को नियंत्रण से मुक्त किया ; उसे कृष्ण के रूप-गुण को रिझाने दिया। उसने कृष्ण के व्यक्तित्व और उनकी लीलाओं में नित्य नये आकर्षण ढूँढ़े। राम-भक्ति में श्रद्धा और आदर की भावना बनी रही, सामाजिक विधि-निषेध मानने का उपदेश दिया गया, परन्तु कृष्ण-भक्ति ने इनसे ऊपर उठ कर इष्टदेव से और भी निकट का सम्बन्ध जोड़ा। सूरदास जानते हैं कि इन्द्रियों के नियमन का मार्ग शुष्क, नीरस और कठिन है; इसके समकक्ष भगवान के रूप-गुण में इन्द्रिय-समर्पण का मार्ग सरल और सरस है। अत. सहज भी है। सारे भ्रमरगीत प्रसंग में इसी संदेश की तो प्रतिष्ठा की गई है। गोपियाँ कहती हैं—

उलटी रीति तिहारी ऊधो सुनो सो ऐसो को है
अल्प वयस अबला अहीर सठ तिनहिं योग कत सोहै
कच सुचि आँधर काजर कानी नकटी पहरे बेसरि
मुंडली पटिया पारि सँवारै कोढ़ी लादे केसरि
बहिरी पति सौं बात करै तौ वैसोइ उत्तर पावै
सो गति होय सबै ताकी जो ग्वारिन योग सिखावै

और—

हमरे कौन जोग व्रत साधै
मृगत्वच, भस्म, अधारि जटा को को इतनो अवराधै
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए अगम अपार अगाधै
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इतै बाँध को बाँधै
आसन, पवन, भूति, मृगछाला, ध्याननि को अवराधै
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै

वे तो सीधे प्रेम के मार्ग को जानती हैं—

काहे को रोकत मारग ऊधो ?
सुनहु, मधुप निर्गुन-कटक तैं राजपंथ क्यों रूधौं ?

उन्हें तो सरल प्रेमोपासना ही रस-युद्ध जान पड़ती है। इसीसे वे ऊधो से कहती हैं—

तेरौ बुरो न कोऊ मानै
रस की बात, मधुप नीरस सुन, रसिक होत सो जानै

इसीलिये वे कुब्जा के कृत्य को सराहती हैं—

बस वै कुब्जा भलो कियो
सुनि-सुनि समाचार ऊधो यो कछुक सिरात हियौ
जाको गुन, गति, नाम रूप हरि हार्यौ फिरि न दियौ
तिन अपनो मन हरत न जान्यौ हँसि-हँसि लोग जियौ
सूर तनिक चन्दन चढ़ाय तन व्रजपति वस्य कियौ
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियौ

सच तो यह है कि इसी मन को कृष्णोन्मुख करने की साधना ने सूरदास द्वारा गोपियों के मुख से उद्धव को उलाहने दिलवाये हैं। उनका न योग से विरोध था, न इन्द्रिय-निग्रह से। वास्तव में, वे तो इस भाव के भक्त हैं—

काम क्रोध में नेह सुहृदता काहु विधि कहै कोई
धरै ध्यान हरि को जे दृढ़ करि सूर सूरसो हरि को होई

भज जेहि भाव सों मिले हरि ताहि, लों
भेद-भेदा नहीं पुरुष-नारी
सूर प्रभु श्याम व्रजबाम आतुर काम
मिली वनधाम गिरिराजधारी

और भी—

निगम ते अगम हरि कृपा न्यारी
प्रीतिवश्य श्याम कि राह कि रङ्क
कोउ पुरुष कि नारि नाहि भेदकारी

पुष्टि-मार्ग में भगवतलीला का महत्वपूर्ण स्थान था। वल्लभाचार्य को दास्यभाव की दैन्यप्रधान भक्ति प्रिय नहीं थी, यह उनकी और सूरदास की प्रथम भेंट के प्रसंग से ही स्पष्ट है। उनकी भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि को ही विशेष स्थान प्राप्त था और सखा-भाव से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त किया जाता था। इसीसे हम सारे सूरसागर को प्रधानतया सख्य-भाव से भरा पाते हैं। सख्य-भक्ति सूरसागर में दो रूपों में प्रगट हुई है। एक, गोपों-ग्वालों और कृष्ण-प्रसंग में। गोप-ग्वाल कृष्ण के प्रति सख्य-भक्ति के अत्यतम उदाहरण हैं। वह कृष्ण के मिलन-सुख में विभोर रहते हैं। भक्त गोप-ग्वालों के भाव से ही कृष्ण से प्रेम करता है। सूरदास ने कृष्ण की कैशोर लीला को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है। वे जैसे उन ग्वाल-बालों में से एक हों और कृष्ण की प्रत्येक वनलीला में उपस्थित हों। दूसरे, सारा सूरसागर सखा भाव से गाया गया है। भक्त भगवान की प्रत्येक लीला में भाग लेता है। संस्कृत नाटककारों के विदूषक राजमित्र की तरह वह कृष्ण के चरित्र के अंतःपुर में भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकता है। वह राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को तटस्थ, मित्र-भाव से वर्णन करता चला जाता है। जैसे वह केवल एक अभिन्न मित्र का केलि-कौतूहल मात्र हो जिसमें वर्जित और अग्राह्य कुछ भी नहीं। यही कारण है कि उसे अनौचित्य की सीमा बाँधने तक का ध्यान नहीं आता, लज्जा की तो बात ही क्या?

भले ही आधुनिक समालोचन सूर पर विलासिता या गंदी शृङ्गारप्रियता का दोषारोपण करें, कृष्ण के अनन्य मित्र को इसकी चिंता नहीं। वास्तव में सूर के कृष्ण उन्हें इतने सहज-सुलभा, सामान्य, मानव-मित्र लौकिक हो गए हैं कि उनका काव्य भी शास्त्र के विधि-निषेध से परे हो गया है। वे एक अलौकिक व्यक्ति की लौकिक लीला को मित्र-रूप से देख रहे हैं, उनके लिए कैसी गंदगी, कैसी विलासिता ! उनकी तो सखा-भाव की मधुर साधना है जो उन्होंने सारे सूरसागर के दशम स्कंध में बिखेर दी है। वास्तव में आसक्ति के सभी प्रकार-भेद सूरसागर की कृष्ण-लीला में मिल जाते हैं :

१. गुण माहात्म्यासक्ति (श्रवण, कीर्तन) भ्रमर लीला
२. रूपासक्ति (वंदन) दानलीला
३. पूजासक्ति (चरणसेवन, अर्चन) गोवर्धन धारण
४. स्मरणासक्ति (स्मरण) गोपिका वचन परस्पर
५. दास्यासक्ति (दास्य) मुरली स्तुति, विनयपद
६. सख्यासक्ति (सख्य) गोचारण
७. कान्तासक्ति (,,) गोपिकाविरह
८. वात्सल्यासक्ति (वात्सल्य) यशोदा-विलाप
९. आत्मनिवेदनासक्ति (आत्मनिवेदन) भ्रमरगीत
१०. तन्मयतासक्ति (,,) ,,
११. परम विरहासक्ति. (,,) ,,

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरसागर की कथावस्तु में नवधा-भक्ति के अंगों की पूर्णत. पुष्टि होती है, जहाँ-जहाँ सूर ने इन प्रसंगों का वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ उनके अंतर्गत उनकी भक्ति भी सन्निहित हो गई है। एक प्रकार से सूरसागर भक्ति के अनेक प्रकारों का उदाहरण है।

इसके सिवा भक्ति के कुछ ऐसे अंग भी हैं जो सूरसागर में पहली वार पाये जाते हैं। शास्त्रीय वर्गीकरण में स्थान उन्हें भले ही नहीं

मिल सका हो परंतु वह भी भक्ति के विशिष्ट अंग हैं, अन्यथा हो सकते हैं। नंद-यशोदा और कृष्ण का संबंध वात्सल्य-भाव की भक्ति का उदाहरण है। नारद-भक्ति-सूत्र में वात्सल्य को स्थान अवश्य दे दिया गया है, परंतु इस प्रकार की भक्ति को अपनाने का उदाहरण मध्य युग से पहले नहीं मिलता। सूरदास ने ही पहले-पहल वात्सल्य-भक्ति-रस का उद्‌घाटन किया। भागवत्कार का उद्देश्य दामपत्य-भाव की भक्ति (या मधुर भाव की भक्ति) को प्रस्फुटित करना ही था और प्राचीन समय से संतों, सूफ़ियों तथा शैव-वैष्णव-भक्तों ने माधुर्य-भाव की भक्ति (जिसमें भक्त और भगवान में कांत-कांता-संबंध होता है) को अपनाया था। किन्तु सूरदास से पहले राधा-कृष्ण और गोपियों के संयोग-वियोग की कथा से यह मधुर भाव इतना विस्तारपूर्वक कभी प्रकाशित नहीं किया गया था। संतों और सूफ़ियों के मधुर-भाव की उपासना को सगुण मधुर-भाव की भक्ति का रूप देकर और उसे कृष्ण-राधा के लोकविश्रुत प्रेम-चरित्र पर आश्रित करके सूरदास ने सगुण भक्ति की उपासना-पद्धति में क्रांति ही कर दी, जिसके कारण उनके पश्चात् अनेक मधुरभक्तिमार्गी संप्रदायों की सृष्टि हुई।

(घ) तुलसीदास

भक्ति-भावना के लिये जिस व्यक्तिगत ईश्वर की आवश्यकता थी, तुलसी ने उसे दाशरथि राम में पा लिया था। सूरदास की तरह "अविगत गति कछु कहत न आवै" सिद्धांत के ही वे भी पोषक थे। उनके राम भी ब्रह्म ही थे।

व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता
अगुन अरूप गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्भय निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
इहाँ मोह कर कारण नाहीं। रवि सम्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किये पतित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
(उत्तर० ७२ क)

परन्तु तुलसी ने अदम्य उत्साह से राम को यह स्थान दिला दिया। सारा मानस तुलसी के इस प्रयत्न का साथी है। इन्हीं दाशरथि राम से तुलसी ने अपना सम्बन्ध जोड़ा। विनयपत्रिका में वे कहते हैं—

जाके प्रिय न राम वदेही।
सो छाँड़िये कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी॥
वलि गुरू तज्यो, कन्त तज वनितहि, भो सब मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनिअत, सुहृद् सुसेव्य जहाँ लौं॥
अंजन कहा आखि जेहि फूटै वहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो
जासों होय सनेह रामपद ऐतो मतो हमारो॥

अनेक स्थान पर तुलसी ने यही मत दुहराया है। 'कवितावली' में वे कहते हैं—

राम हैं मातु-पिता गुरु वन्ध औ सभी सखा सुत स्वामि सनेही।
रामं की सौंह भरोसे है राम को, राम एँयो रुचि राच्यो न केही॥
जीयत राम, मुये पुनि राम, सदा रघुनाथहिं की गति जेही।
सोई जिये जग में तुलसी न तु डोलत और मुये धरि देही।
सो जननी, सो पिता, सोइ भाइ, सो भामिनि, सो सुत सो हित मेरो
सोई सगो, सो सखा, सोई सेवक, सो गुरु, सो सुर साहिव चेरो॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौ वनाइ कहौं वहुतेरो।
जो तजि देह को, गेह को नेह, सनेह सों राम को होई सवेरो॥

मानस में तो उन्होंने भूमिका में ही कह दिया है—

सिया राममय सब जग जानी
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी

इसी भावना से प्रेरित होकर वे संत-असंत दोनों की वरावर अभ्यर्थना करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इसी भावना को लेकर वे एकदम आत्म-समर्पण कर देने को तैयार हैं—

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं वारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावैं रोइ॥
काहि ममता दीन पर जो पतित पावन नाम।
पापमूल अजामिलिहि केहि दियो अपनो धाम॥
रहे संभु-विरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक॥
विपुल भूपति सदसि महँ नर गिरि कह्यो "प्रभु पाँहि"
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हों ताहि॥
एक मुख क्यौं कहौं करुनासिंध के गुन गाथ?
भगतहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ?
आप से कहुँ सौं पिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दास तुलसी और विधि क्यौं धरयौ परहरि जात॥

यह आत्म-समर्पण इसलिये है कि उन्हें भगवान की इस अनुकंपा में विश्वास है जो भक्त के प्रयत्नों की उपेक्षा नहीं करती, न उसके दुर्गुणों या अवगुणों पर दृष्टि डालती है। इसी से तुलसी कहते हैं—

जौ पै हरिजन औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज वालि सों कत हठि बैर विसहते॥
जौ जप जाग जोग व्रत वर्जित केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिवर विहाय व्रज गोप गेह बसि रहते॥

तऊ न मेरे अघ-अवगुन जनिहैं।
जौ जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं॥
चलिहैं छूट पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहैं।
देखि खलहु अधिकार प्रभू सो मेरी भूल भलाई मनिहैं॥

हँस हरिहैं परतीति भगत की भक्त शिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसीदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं॥

राम तो स्वभाव से ही उदार और भक्त-वत्सल हैं—

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग बिराग जतन, करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
सो संपति दससीस अरपि कर रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसीदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

परन्तु इस कृपा के प्राप्त होने पर भक्त तुलसीदास "मोक्ष" नहीं चाहते—भक्ति ही चाहते हैं—"दृढ़ भक्ति" का वरदान और भक्ति-भावना का उत्तरोत्तर विकास। सारी विनयपत्रिका का संचालन इसी मूल भावना से हुआ है, जहाँ तुलसी प्रत्येक देवी-देवता, राम के अनुचर भाइयों, सीता—सबसे राम-भक्ति की याचना करते हैं और अत्यन्त मनोरंजक ढंग पर राम के दरबार में अपनी अर्जी (विनयपत्रिका) पेश करते हैं।

इस भक्ति का रूप क्या है—प्रभु का निरंतर सान्निध्य और उनमें दैन्यभाव से निष्काम अनुरक्ति—

थके नयन पद पानि सुमति बल संग सकल बिछुर्यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन भव भय बिकल डर्यो॥
जेहि गुन तें बस होहु रीतिकरि सो मोहि सब बिसर्यो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्यो॥

इस भक्ति-दान की आवश्यकता है संसार के सुखों-दुःखों के आघात से बचने के लिए जिनका, कारण माया-जन्य भ्रम है। यदि इस भ्रम की

हानि होकर हमें सच्ची वस्तु-स्थिति का ज्ञान हो जाये तो इस दुःख-सुख-जाल से मोक्ष मिल सकती है। तुलसी माया के भ्रम-जाल के उत्पन्न करने की शक्ति को जानते हैं—

सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे॥

भ्रम कारण सही, यहाँ इससे दुखानुभव तो कुछ कम नहीं हो जाता। "मानस" में माया के विविध रूपों का वर्णन करते हुए तुलसी यही बात दुहराते हैं—

एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बसा जीव परा भव-कूपा॥

यह भ्रम जो अविद्या (माया)-जन्य है, राम की कृपा से ही छूट सकता है जिनके बस में माया है—

सो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराया। नाच नटी-इव सहित समाजा॥

और भी—

माया-वस्य जीव अभिमानी। ईसवस्य माया गुनखानी।

भगवान की प्रेरणा से ही अविद्या का नाश होकर विद्या (सत्य ज्ञान) की प्राप्ति संभव है—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या॥

यद्यपि भक्ति-प्राप्ति के लिये भक्त को विशेष आयोजन जुटाना नहीं पड़ता, हरि-कृपा (पुष्टि) की ही आवश्यकता है, परन्तु अपनी ओर से प्रयत्न होना बुरा नहीं है। ये प्रयत्न क्या हों? तुलसी कहते हैं कि ये प्रयत्न हैं :

(१) नाम-स्मरण

ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥

दूसरे स्थल पर तुलसी कहते हैं—

जोग न विराग जप जाप तप त्याग व्रत,
तीरथ न धर्म जानौं वेद विधि किमिहै।
तुलसी सो पोच न भयो है नहि ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै।
मेरे तो न कोउ रघुवीर सुनौ साँची कहौं,
खल अनखैहै तुम्हें, सजन न गमिहै।
भले सुकृती के संग मोहि तुला तोलिए तौ
नाम के प्रसाद-भार मेरी ओर नमिहै॥

(२) रामकथा-गान व श्रवण—

मध्ययुग में कथा-श्रवण और कीर्तन का विशेष महत्त्व था। कदाचित् इससे पहले कभी इन दो साधनों पर इतना बल नहीं दिया गया था, परन्तु यह तो कलियुग था जब अन्य साधन दुष्प्राप्य थे। देश की अवस्था आर्थिक दृष्टि से इतनी हीन थी कि बड़े-बड़े यज्ञ-भागों का आयोजन हो ही नहीं सकता था। दूसरे शासक-वर्ग अन्य मतावलंबी था। इस प्रकार के साधनों में उसकी दृष्टि विशेष रूप से आकर्षित होती। सूफ़ी और संतो ने इन दो धर्मों (हिन्दू-मुसलमान) के भेद को मिटाने के लिए अंतस्साधना पर बल दिया, क्रिया-कर्म-योग आदि उनके लिये त्याज्य थे। परन्तु संतों की साधना से न साधारण जन-भावना की तृप्ति हो सकती थी, न सामूहिक धर्म-चेतना का विकास जो इस विपत्ति के युग में आवश्यक था। इसलिये भक्त-साधकों ने जहाँ एक ओर कथा-श्रवण, कीर्तन और नित्य एवं नैमित्तिक पूजन की सामूहिक विधियाँ निकालीं वहाँ दूसरी ओर अंतस्साधना का भावुक रूप (रूप-सौन्दर्य का ध्यान) का भी विकास किया।

(३) सगुण रूप का ध्यान—

'मानस' में भगवान् श्री राम के रूप-सौन्दर्य के अत्यन्त सुन्दर वर्णन हैं, विशेषतः बालकांड और अयोध्याकांड में। इन वर्णनों को हम राम-ध्यान के अंतर्गत रख सकते हैं। कई कांडों के मंगलाचरण में इस प्रकार का स्वरूप-ध्यान है। विनय-पत्रिका के कई पदों में भी यही उद्देश्य तुलसी के सम्मुख है। तुलसी तो यहाँ तक कह देते हैं।

मन इतनोई या तनु को फल।
सब अंग सुभग बिंदु माधव छबि तजि सुभाउ अवलोक एक पल॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु नख द्युति हृदय तिमिर हारी।
कुलिस केतु जव जलज रेख वर अंकुस मन गज बसकारी॥
कनक-जटित मनि नूपुर मेखल कटि तट रटति मधुर बानी।
त्रिवली उदर गँभीर नाभि सर जहँ उपजे बिरंचि ज्ञानी॥
उर वनमाल पदिक अति सोभित विप्र चरन चित कहँ करसै।
स्याम तामरस दाम बरन वपु पीत वसन सोभा बरसै॥
कर कंकन केयूर मनोहर देति मोद मुद्रिक न्यारी।
गदा कंज हर चारु चक्रधर नागसुंड सम भुज चारी॥
कंबु ग्रीव छबि सींव चिबुक द्विज अधर अरुन उन्नत नासा।
नव राजीव नैन ससि आनन सेवक सुखद बिसद हासा॥
रुचिर कपोल स्रवन कुण्डल सिर मुकुट सुतिलक भाल भ्राजै।
लुलित भ्रकुटि सुन्दर चितवन कच निरखि मधुप अवली लाजै॥
रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि सिंधु सुता रत पद सेवा।
जाकी कृपा कटाच्छ चहत सिव विधि मुनि मनुज दनुज देवा॥
तुलसीदास भवत्रास मिटै तब जब मति भेदि स्वरूप अटकै।
नाहित दीन मलीन हीन सुख कोटि जन्म भ्रमि भ्रमि भटकै॥

यह रूप-पूजा का अंतिम चरण है। दूसरी शताब्दी के लगभग वैष्णव पुनरुत्थान के समय बौद्ध मंदिरों की होड़ में हिन्दू मंदिरों का

आविर्भाव हुआ और 'त्रिमूर्ति' की स्थापना देश के कोने-कोने में हो गई। अगली ५-६ शताब्दियों में मूर्ति-पूजा का उत्तरोत्तर विकास हुआ और कला (स्थापत्य, मूर्ति, चित्र) को उपासना के इस बाह्य रूप को सँवारने का अच्छा मौक़ा मिला। फल हुआ भावुकता की वृद्धि। सुन्दर मूर्तियों ने इसमें सहायता दी। १०वीं शताब्दी के आस-पास आध्यात्म और भागवत के समय भक्त की विह्वल रूपोपासना के दर्शन हमें पहली बार होते हैं। १६वीं शताब्दी में सूर और तुलसी के साहित्य में यह रूपोपासना चरमोत्कृष्ट रूप में मिलती है।

(४) गुरु-भक्ति—उपासना, भक्ति और आध्यात्म-ज्ञान-लाभ के लिए गुरु के प्रति भक्ति-भावना का उपदेश सदैव रहा है, विशेषकर अंतः साधना के लिए। वहाँ अनुभूति को समझने-समझाने का प्रश्न है। परंतु मध्ययुग में गुरु को नारायण मान लिया गया था। कुछ लोग इस प्रवृत्ति में इस्लामी प्रभाव ढूँढ़ते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। गुरुभक्ति के विकास का हमारा अपना इतिहास है। परिस्थितियों ने मध्ययुग में इसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उस समय संस्कृति, भाषा और साहित्य सभी के नाते जनता धर्मग्रन्थों से दूर जा पड़ी थी और इस-लिए धर्म का परिचय गुरुमुख से ही होता था। ऐसी अवस्था में गुरु-पूजा भी भगवत्प्राप्ति का एक साधन होना अनिवार्य था।

(५) सत्संग—सत्संग ईश्वरोन्मुख होने का प्रधान साधन है। विशेषतः उन धर्मों में जो विधि-विधानों को अधिक नहीं मानते और आध्या-त्मिक साधना और वैयक्तिक भाव-विकास पर अधिक ध्यान देते हैं। इसीलिए भारतीय साहित्य में पहली बार सत्संग की महिमा मिलती है। निवृत्ति-प्रधान धर्मों में सत्संग ही पहली सीढ़ी है। भक्तों, संतों और ज्ञानियों के साथ ही माया-जाल से पीछा छूटता है—ईश्वरानुरक्ति तो बाद की बात है। सूफ़ियों और संतों के काव्य में सत्संग की महिमा बढ़ी। ये दोनों ही अंतःसाधना पर बल देते थे। परन्तु भक्तों

ने भी इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया। तुलसी ने मानस में स्थान-स्थान पर सत्संगति की महिमा गाई है।

रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्हके सत्संगति अति प्यारी॥
(उत्तर० १२८)

× × संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥
पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेत असंत अभागी॥
भूर्ज तरु सम संत कृपाला! परहित नित सह विपति विसाला॥
(वही, १२१)

संत उदय संतत सुखकारी। विस्व सुखद जिमि इहुतभारी॥
(वही)

इस प्रकार के अवतरणों से मध्ययुग की धार्मिक मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है जिसने मनुष्यता के श्रेष्ठतम आदर्शों को 'सन्त' में कल्पित किया था और जो सत्संगति को ईश-प्रेम की अनिवार्य भूमिका मानती थी।

विनयपत्रिका में तुलसी इन साधनों को एक ही पद में इस प्रकार रख देते हैं—

जो मन भजो चहै हरि सुरतरु।

तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोई करु॥
सम संतोष विचार विमल अति सत्संगति चारिहु दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ-मोह-मद राग-द्वेष निश्चर करि परिहरु॥
श्रवण कथा मुख नाम हृदय हरि शिर प्रणाम सेवा कर अनुसरु।
नैननि निरखि कृपा समुद हरि अज-जग-रूप भूप सीतावरु॥
यहै भक्ति वैराग्य ज्ञान महँ हरितोषन यह शुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास शिवमत मारग यह चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥

तुलसी की सारी साधना इसी पद के अनुसार अभिव्यक्त हुई है।

इन सभी साधनाओं को रामचरितमानस में केन्द्रीभूत कर दिया गया है।

भगवान् के प्रति तुलसी की भक्ति-भावना केवल दो प्रकार से प्रकाशित हुई है--शांति और प्रीति। इसीसे शांत और दास्य भावों को ही उनकी रचनाओं में प्रधानता मिलेगी। प्रेम (सख्य), अनुकंपा (वात्सल्य) और कान्ता या मधुर रति भाव (मधुर) केवल प्रसंगवश कृष्ण-गीता और राम-गीता में पाये जाते हैं। तुलसी की भक्ति-पद्धति में इनका कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है। उनकी भक्ति दास्य-भावना की है। इससे उन्होंने शरणागति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। तुलसी के सुग्रीव और विभीषण शरणागत भक्त ही हैं। हां, विनयपत्रिका में शांतिरस का पूर्ण परिपाक है और मानस के भी सभी रसों का परिहार इसी रस में है।

परन्तु यह जो कुछ हो, तुलसी की दास्य-भावना ने नाम को स्वामी के ही रूप में देखा है। वे कहते हैं--

सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि।

विनयपत्रिका में दास्य-भावना का अत्यन्त उत्कृष्ट, साहित्यिक विशद विकास है। विनयभाव या दास्यभावना के लिए आवश्यक हैं--(१) आलंवन के ऐश्वर्य की पूरी-पूरी प्रतिष्ठा, (२) अपनी दीनता का प्रकाशन। तुलसी ने इस ऐश्वर्य को तीन रूपों में देखा है। (१) शौर्य--उनके राम में यह गुण सर्वोच्च मात्रा में मिलेगा, (२) शील--इसकी सर्वप्रथम प्रतिष्ठा तुलसी के ही काव्य में हुई है। अन्य रामोपासक कवियों में इसका अभाव है। (३) रूप-सौन्दर्य—स्वयं तुलसी ने वरावर इसका वर्णन किया है। रामचरितमानस में राम के शौर्य, शील और रूप-सौन्दर्य का वृहद् संग्रह है। वास्तव में रामचरितमानस तुलसी की भक्ति की भूमिका है। विनयपत्रिका में अपरोक्ष रूप में यह भूमिका वरावर काम कर रही है। कृष्ण-भक्ति में केवल रूप की ही प्रतिष्ठा है। शौर्य केवल अद्भुत रस के प्रादुर्भाव के

लिए आता है। शील का पता ही नहीं। जहाँ भागवत के भगवान स्वयं अपने आनन्द के लिए लीला करते हैं, वहाँ तुलसी के प्रभु राम-भक्तों के दुःख दूर करने के लिए अवतार लेते हैं। यही कारण है कि तुलसी के राम में माधुर्य का सर्वोत्तम संग्रह होते हुए भी वे शौर्य की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा के रूप में भी चित्रित किये गये हैं। तुलसी और सूर दोनों ने अपने-अपने इष्टदेवों की तरुण छवि का वर्णन किया है, परन्तु तुलसी कहीं भी धनुष-बाण नहीं भूलते, शील-संग्रह से नहीं चूकते। रूप का फल है आसक्ति, शील से तुलसी राम के निकट पहुँचते हैं और शौर्य स्वयं तुलसी के व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी की साधना भगवान राम की भक्ति, उनके नाम में रति और उनकी मानसिक पूजा को घेरकर चलती है। तुलसी का साधना-मार्ग विरक्ति (वैराग्य) का मार्ग नहीं है। तुलसी स्पष्ट कहते हैं—

जा पर तृन लौं वारिये राग-विराग-सुहाग।
बड़े भाग सों पाइये सो अगाध अनुराग ॥

अतः तुलसी की साधना रागात्मक है। उसमें संसार से विमुखता का उद्देश्य अवश्य है, परन्तु यह विमुखता इसीलिये है कि राम में अनुराग उत्पन्न हो। कलि में राम-नाम ही एकमात्र साधन है—इसे तो तुलसी ने अनेक बार कहा है—

कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जनमन मीना ॥
नाम कलपतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जंजाला ॥
रामनाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥
नहिं नहिं करम न भगति विवेकू। रामनाम अवलंबन एकू ॥

और

भले भली भाँति है जो मेरे काहे लागिहै
मन राम नाम सों सुभाय अनुरागिहै।

रामनाम सों विराग जोग जागिहै
वाम विधि भालहूँ न कर्म दाग दागिहै ॥
रामनाम मोदक सनेह सुधा पागिहै
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै।
कामतरु रामनाम जोइ जोइ माँगिहै
तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खागिहै ॥

और

राम नाम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दस गून ॥

वास्तव में ज्ञान और प्रेम (ईश्वर विषयक रति) ये दोनों ही भगवद्भक्ति-प्राप्ति के साधन हैं, परन्तु तुलसी भक्ति को ही अधिक उपादेय समझते हैं। इस प्रेम-साधना के आदर्श हैं—शंकर, भरत, जनक—

नेम प्रेम शंकर कर देखा। अविचल हृदय भक्ति कै रेखा ॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लख परत भरत मत ऐहू ॥
भरत सरिस को रामसनेही। जग जपु राम रामु जप जेही ॥

स्वयं रामचन्द्र अपने मुख से कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता ॥

तुलसी का तो निश्चित मंतव्य ही यह है—

रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननि हारा ॥

और

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग जप ज्ञान विरागा ॥

यह साधन अन्य वस्तु निरपेक्ष है। तुलसी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

यह साधन सरल नहीं है—

अविरल भक्ति विशुद्ध तब, श्रुति पुरान जेहि गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रताप कोउ पाव॥
(मानस)

साधक, साधना और साध्य का सम्बन्ध भी समझ लेना चाहिये। साधक भक्त है, उसकी साधना भक्ति है और साध्य भगवान् राम हैं।

साधक भक्त भगवान् से कुछ नहीं माँगता, केवल स्नेह की कामना रखता है—

कुटिल कर्म लै जाहिं मोहिं जहँ तहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडियो कमठ-अंड की नाई॥
(विनयपत्रिका)

साधना-सम्पन्न साधक की स्थिति इस प्रकार है—

जानकी जीवन पर बलि जैहों।
चित कहै राम सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभुपद विमुख न पैहौं॥
मन समेत या तनु के बासिन्ह इन्है सिखावन दैहौं॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं॥
रोकिहौं नयन विलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं॥
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।
(विनयपत्रिका)

राम-भक्ति की साधना का कोई एक निश्चित मार्ग नहीं है। तुलसी ने अनेक साधन कहे हैं जिनमें भक्ति-योग (लक्ष्मण को भगवान् का उपदेश) और नवधाभक्ति (शबरी के प्रति राम गीता) प्रधान हैं। परन्तु उत्तरकांड के कागभुशुण्डि प्रसंग में पंचधा साधनों का वर्णन इस प्रकार आया है—

सद्गुरु वेद वचन विस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा ।।७
रघुपति भगति सजीवन मूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।।८

एहि विधि भलहिं सोग रोग नसाहीं ।
नाहित जतन कोटि नहिं जाहीं ।।
जानिउ तव मन विरुज गुसाईं ।
जब उर बल विराग अधिकाई ।।
सुमति छुधा बढ़ई नित नई ।
विषय आस दुर्बलता भाई ।।
विमल ज्ञान जल जब सो नहाई ।
तब रह राम भगति उर छाई ।।

ये साधन हैं—१. श्रद्धा, २. ज्ञान, ३. मति, ४. इंद्रिय-संयम और ५—निष्ठा । सब साधनों का अंत एक ही है—

सब साधन कर सुफल सुहावा ।
लखन राम-सिय दर्शन पावा ।।
(मानस)

इस प्रकार किसी साधन को छोटा-बड़ा नहीं कहा गया ।

तुलसी साधारण धार्मिक क्रिया-कलाप की निम्न भूमि से ऊपर उठकर साधना के उच्च, उच्चतर, उच्चतम स्तरों में प्रवेश करते हैं। उन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं खड़ा किया । प्रत्येक सम्प्रदाय का आधार कुछ विशेष वाह्य अनुष्ठान या धार्मिक क्रियाकलाप होते हैं। तुलसी के रामभक्ति पथ (हरिभक्ति-पथ) में इन वाह्य अनुष्ठानों को किंचित भी स्थान नहीं मिला है। अन्य सम्प्रदाय जहाँ वाह्य अनुष्ठानों का पालन करते हुए धीरे-धीरे अंततोगत्वा उच्च आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचते हैं जहाँ वाह्य साधन अनावश्यक हो जाते हैं अथवा साधन-साध्य की एकता स्थापित हो जाती है, वहाँ तुलसी पहले से ही आध्यात्मिक बोध की उच्चतम भूमि से अपना संदेश शुरू करते हैं। सच तो यह है कि तुलसी का धर्म वाह्यानुष्ठान-निरपेक्ष है। सच्ची साधना के मूल में आध्यात्मिक

बोध आवश्यक है। यह आध्यामिक बोध सभी को नहीं होता। इसके लिए आध्यात्मिक तत्त्वों में वास्तविक रुचि चाहिये। यहीं से तुलसी अपना काव्य और धार्मिक संदेश आरंभ करते हैं। रामचरितमानस का मानसरोवर-रूपक रखते हुए तुलसी का कथन है—

सदा सुनहिं सादर नर-नारी। तेइ सरवर मानस अधिकारी।
अति खल जे विसई वग कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥
संवुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विसय कथा रस पाना॥
तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काग बलाक विचारे।
आवत एहि सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हकें बचन बाघ हरि ब्याला॥
गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल विसाला॥
बन बहु विसम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना॥

जे श्रद्धा संवल रहित नहिं सन्तन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥

(बालकांड)

श्रोता सुमति सुसील रुचि कथा रसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥

(उत्तरकांड)

आध्यात्मिक बोध होने पर राम की कथा में रुचि उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक तत्वों की ओर मन जाता है। तुलसी के मत में सर्वोच्च आध्यात्मिक भूमि राम-भक्ति है—

नर सहस्र में सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मव्रत धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय विमुख विरागरत होई॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक् ज्ञान सुकृत कोउ लहई॥
तिन्ह सहस्र महँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लोक विग्यानी॥

धर्मसील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी ॥
सबसे सो दुर्लभ सुरराया । रामभगति रत गतमद माया ॥
(उत्तरकांड)

तुलसी की साधना का अर्थ यही है कि इस उच्च आध्यात्मिक भूमि तक पहुँचा जाय जो भरत और शिव को प्राप्त थी। इस उच्च मानस भूमि में पहुँचकर मनुष्य लोकपर और असाधारण हो जाता है।

इस साधना का रूप है राम-भक्ति। जो साध्य है वही साधन है। साधन अंततः साध्य में मिल जाता है। गौण रूप से तुलसी ने भक्ति-प्राप्ति की सीढ़ियाँ भी कही हैं (देखिये लक्ष्मण और शबरी के प्रति रामगीताएँ)।

तुलसी ने साधारण भक्ति-प्राप्ति और दृढ़ भक्ति-प्राप्ति में अंतर रखा है। दृढ़-भक्ति भक्ति की सर्वोच्च पराकाष्ठा है। उसकी प्राप्ति होने पर कुछ पाना नहीं रह जाता। आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन और साध्य का रूप इतना निकट होता है कि साधन का अर्थ ही साध्य की आंशिक प्राप्ति है। अतः रामभक्ति के साधन रामभक्ति के सोपान हैं।

भारतीय धार्मिक परम्परा में साधना के तीन मार्ग हैं—(१) ज्ञानमार्ग, (२) कर्ममार्ग और (३) भक्ति मार्ग। तुलसी ने कर्ममार्ग को मानस में स्थान नहीं दिया है। वे बाह्यानुष्ठानों से उत्पन्न विषमता से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने कबीर की भाँति कर्मकांडों की असार्थकता को उत्तेजनापूर्ण शब्दों में याद नहीं किया परन्तु उन्होंने उनकी उपेक्षा की—यह प्रगट है। इन्होंने गौण तत्त्वों को छोड़कर मुख्य तत्त्वों को पकड़ा। रह गये ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। उत्तरकांड में तुलसी ने इनकी विशद तुलना की है (देखिये ज्ञानदीपक और भक्ति-मणि) और भक्ति को ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित किया है। परन्तु ज्ञान से उनका कोई मूलगत विरोध नहीं था। वे उसे भक्ति की नींव समझते थे। यह इस तरह कि उन्होंने राम-भक्ति के पहले राम के समुचित रूप का ज्ञान आवश्यक ठहराया। वास्तव में राम के

शुद्ध ब्रह्मपर रूप का ज्ञान होने से ही भक्त राम में भक्ति का अधिकारी हो सकता है (देखिये उमा-प्रसंग)। दूसरे, उन्होंने ज्ञान के साधनों को भक्ति का साधन बना दिया है—

(१) वैराग्य—सांसारिक विषयों का त्याग। वैराग्य ज्ञान के साधक का एक महत्वपूर्ण विषय है। तुलसी उसे भक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं।

(२) ध्यान—तुलसी का ध्यान साकार है। उसका सम्बन्ध राम से है जो आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण व्यक्ति हैं। ध्यान के साथ प्रेम और आत्मसमर्पण के भावों का गहरा सम्बन्ध है। इससे साधक ध्येय की कृपा की कामना करता है। उस कृपा को लाभ करके वह साधक के अत्यन्त सन्निकट पहुँचना चाहता है। ज्ञान में निराकार ध्यान का विशेष महत्व है और उसके द्वारा साधक ध्येय के साथ तत्वत: एक हो जाना चाहता है।

(३) विवेक और अन्तर्दृष्टि—तुलसी विवेक के निरंतर विकास और अन्तर्दृष्टि को अपनी साधन-पद्धति में प्रमुख स्थान देते हैं। यहाँ भक्ति के अन्दर ज्ञान की साधना आ जाती है। इस विवेक और अन्तर्दृष्टि के विकास के लिए आचरण की भूमिपर चलना पड़ता है। इसी से तुलसी आचार-विचार पर बल देते हैं और अनाचार एवं उच्छृङ्खलता की भर्त्सना करते हैं (देखिये बालकांड का संत-असंत वर्णन और उत्तरकांड का कलियुग वर्णन)। साधक की कसौटी तो आचरण ही है। भक्त भी आचरण-निरपेक्ष नहीं है। उसे तो आचरण का और भी अधिक ध्यान रखना पड़ेगा।

परन्तु भक्ति ज्ञान के इन अंगों को लेते हुए और भी अधिक महत्वपूर्ण इसलिये है कि उसमें ज्ञानमार्ग की कठिनाइयाँ नहीं हैं। वह प्रेम की साधना है, अंतःकरण का परिष्कार है। उसके लिये न शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है, न गुरू की। भगवतभक्ति और भगवान् एक ही वस्तु हैं—भगवद्भक्ति भगवान् तक पहुँचने का साधन ही नहीं है,

स्वयं साध्य है। परन्तु साधना की अंतिम अवस्था में भक्ति-भाव ही भक्त का श्वास-प्रश्वास हो जाता है। वह साधना से होते हुए निःसाधना की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। विनयपत्रिका में तुलसी ने इसी निःसाधनता की अवस्था को प्राप्त कर लिया है। वहाँ उनके व्यक्तिगत जीवन का अन्त हो गया है। उनका सारा व्यक्तित्व राम के चरणों में विछ गया है।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि तुलसी अकर्मण्यता को प्रश्रय देते हैं। तुलसी ने आचरण पर बल दिया है और वर्णाश्रम का पोषण किया है, स्वयं उनके नायक विरागी नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कर्मकांड की उपेक्षा करते हुए भी तुलसी कर्म का महत्व समझते हैं। इससे अच्छा आदर्श और क्या हो सकता है कि मनुष्य का जीवन विवेक के पथ पर चलता हो और उसमें ऊँची से ऊँची अन्तर्दृष्टि की प्रेरणा हो। ज्ञान का अर्थ है विचार की साधना, कर्म का अर्थ है आचरण की साधना। तुलसी ने रामचरितमानस के कथा-सूत्र में ही आचरण की साधना को गूँथ रखा है। परन्तु कर्म के साथ अहंकार लगा हुआ है। इसीसे तुलसी निष्काम कर्म का संदेश देते हैं।

मानसांतर्गत जिस भक्ति की प्रतिष्ठा है वह वैधी भक्ति है। वह साधन-निरपेक्ष नहीं है। वह शास्त्रोक्त नवधा भक्ति ही है। वन में जब भगवान् श्रीराम वाल्मीकि के रहने के लिए स्थान पूछते हैं तो उत्तर में महर्षि भक्ति के नौ अंगों का ही वर्णन करते हैं—

जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरिनाना॥
भरहिं निरंतर होंहि न पूरे।
तिन्हे हिये तुम्ह कहँ गृह रूरे॥ (श्रवण)

जस तुम्हार मानस विमल हंसनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ राम बसइ हिय तासु॥
(कीर्तन)

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा
(स्मरण)

कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा ॥
(पादसेवन)

तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पर भूषन धरहीं ॥
(अर्चन)

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेखी ॥
(वंदन)

तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम वसहु तिनके मन माहीं ॥
(दास्य)

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥
(सख्य)

तुम्हहिं छाँडि गति दूसर नाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माँहीं ॥
(आत्मनिवेदन)

तुलसी ने "साधन सिद्धि रामपद नेहू" कहकर अपने समय की सभी साधनाओं को दृष्टि की ओट कर लिया। उनके समय में भक्ति की साधना के साथ चल रही थी योग की साधना, संतों की सहज साधना, सूफ़ी-संतों की प्रेम-साधना। तुलसी ने इन सबको छोड़ कर भक्ति को ही अपनाया, परन्तु उन्होंने रामभक्त होते हुए भी किसी विशेष इष्टदेव को बुरा नहीं कहा। उन्होंने विनयपत्रिका में सभी देवी-देवताओं की राम के नाते प्रार्थना की है और शिव, हनुमान और कृष्ण की ओर तो उनका विशेष आग्रह है। उन्होंने इनका लीला-गान विशद रूप से किया है और इनका स्तवन किया है। सम्प्रदाय की दृष्टि

से तुलसी स्मार्त वैष्णव थे, परन्तु उन्होंने सभी लोक-साधनाओं को आदर और प्रेम की दृष्टि से देखा था। उनका हृदय भारत की जनता का धर्म-प्राण हृदय था। शैवों और वैष्णवों के विरोध को हटाने का उनका स्तुत्य प्रयत्न तो स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है।

परन्तु साधना के सभी अंगों पर प्रकाश डालते हुए तुलसी ने मुख्यता नाम-स्मरण (भगवन्नाम-साधन) को दी है। तुलसी के पात्र भी भजनानंदी हैं—

अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती।
सब तजि भजन करौं दिन राती॥

(सुग्रीव)

सुमिरि पवन सुत पावन नामू। अपने वस करि राखेउ रामू॥
और अंत में—
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं राम गुन गाई॥
तुलसी ने मानस का अंत भी इसी रामगुनगान से किया है—

यह कलिकाल मायतन मन करि देखु विचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग यज्ञ जप-तप-व्रत-पूजा॥
रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं। संतत सुनिअ राम-गुन ग्रामहिं॥

(उत्तरकांड)

विनयपत्रिका, कवितावली, मानस, बरवै रामायण और दोहावली में नाम-स्मरण-संबन्धी अनेक विचार और भाव प्रस्फुटित हुए हैं।

परन्तु केवल नाम-स्मरण मात्र बाह्याचार बन जाता है। कागभुशुण्डि-प्रसंग में इसकी निःसारता प्रकट है। नाम-स्मरण के साथ नीति और सदाचार के पालन की नितांत आवश्यकता है। कागभुशुण्डि पूर्व-जन्म में नाम जप तो करते थे, परन्तु अहंकार, दंभ क्रोध और अनीति के शिकार थे। उन्हें नारद का अभिमान दूर ही करना पड़ा।

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा

(स्मरण)

कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा ॥

(पादसेवन)

तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पर भूपन धरहीं ॥

(अर्चन)

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेखी ॥

(वंदन)

तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिनके मन माहीं ॥

(दास्य)

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

(सख्य)

तुम्हहिं छाँडि गति दूसर नाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माँहीं ॥

(आत्मनिवेदन)

तुलसी ने "साधन सिद्धि रामपद नेहू" कहकर अपने समय की सभी साधनाओं को दृष्टि की ओट कर लिया। उनके समय में भक्ति की साधना के साथ चल रही थी योग की साधना, संतों की सहज साधना, सूफी-संतों की प्रेम-साधना। तुलसी ने इन सबको छोड़ कर भक्ति को ही अपनाया, परन्तु उन्होंने रामभक्त होते हुए भी किसी विशेष इष्टदेव को बुरा नहीं कहा। उन्होंने विनयपत्रिका में सभी देवी-देवताओं की राम के नाते प्रार्थना की है और शिव, हनुमान और कृष्ण की ओर तो उनका विशेष आग्रह है। उन्होंने इनका लीला-गान विशद रूप से किया है और इनका स्तवन किया है। सम्प्रदाय की दृष्टि

से तुलसी स्मार्त वैष्णव थे, परन्तु उन्होंने सभी लोक-साधनाओं को आदर और प्रेम की दृष्टि से देखा था। उनका हृदय भारत की जनता का धर्म-प्राण हृदय था। शैवों और वैष्णवों के विरोध को हटाने का उनका स्तुत्य प्रयत्न तो स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है।

परन्तु साधना के सभी अंगों पर प्रकाश डालते हुए तुलसी ने मुख्यता नाम-स्मरण (भगवन्नाम-साधन) को दी है। तुलसी के पात्र भी भजनानंदी हैं—

अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती।
सब तजि भजन करौं दिन राती॥

(सुग्रीव)

सुमिरि पवन सुत पावन नामू। अपने वस करि राखेउ रामू॥

और अंत में—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं राम गुन गाई॥

तुलसी ने मानस का अंत भी इसी रामगुनगान से किया है—

यह कलिकाल मायतन मन करि देखु विचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग यज्ञ जप-तप-व्रत-पूजा॥
रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं। संतत सुनिअ राम-गुन ग्रामहिं॥

(उत्तरकांड)

विनयपत्रिका, कवितावली, मानस, वरवै रामायण और दोहावली में नाम-स्मरण-संबन्धी अनेक विचार और भाव प्रस्फुटित हुए हैं।

परन्तु केवल नाम-स्मरण मात्र बाह्याचार बन जाता है। कागभुशुण्डि-प्रसंग में इसकी निःसारता प्रकट है। नाम-स्मरण के साथ नीति और सदाचार के पालन की नितांत आवश्यकता है। कागभुशुण्डि पूर्व-जन्म में नाम जप तो करते थे, परन्तु अहंकार, दंभ क्रोध और अनीति के शिकार थे। उन्हें नारद का अभिमान दूर ही करना पड़ा।

या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई॥
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिट इक ठाँही॥

इसी साधना की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित हो तुलसी कहते हैं--

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो सती कहाइ विषय वासना न छंडै॥
जाय धनिक बिनु दान जाय निर्धन बिनु धर्महिं।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महिं॥
सुत जाय मातु-पितु भगति बिनु तिय सो जाइ जेहि पति न हित।
सब जाइ दास तुलसी कहैं, जो न रामपद नेह कित॥

तुलसी के भक्ति-योग का रूप क्या है, यह देखना महत्वपूर्ण है। मानस में तीन स्थलों पर भक्ति के भेद-प्रभेद बताये गये हैं और तुलसी के भक्तियोग का सत्य रूप समझने में इन्हीं स्थलों से सहायता मिलेगी। अरण्यकांड में लक्ष्मण के प्रति रामगीता में अनन्य भक्ति की व्यवस्था है। मनुष्य ब्राह्मणों (विप्रों) के चरणों में प्रेम करे और सामाजिक वेद-मर्यादित व्यवस्था को मानता हुआ अपने-अपने वर्णानुसार कर्म करता रहे। इससे अनासक्ति-भाव (विषय-विराग) का जन्म होगा। फलतः राम-भक्ति-धर्म में अनुराग उत्पन्न होगा। जब इतना हो जाये तो श्रवणादिक नव-भक्ति द्वारा इस भक्ति-भावना को दृढ़ किया जाय। अंत में लीला-प्रेम की उत्पत्ति होगी। सत्संगति की ओर मन लीन होगा। भजन में दृढ़ता आयेगी। संसार के सब नाते राम से संबन्धित हो जायेंगे जैसा तुलसी का भाव था--

सियाराम-मय सब जग जानी।

अंतिम अवस्था में पहुँच कर भक्त निष्काम भाव से अनन्याश्रित होकर भजन करेगा। काम-क्रोध-मद-लोभ उसे छोड़ देंगे। उसका भक्ति भाव इस हद तक पहुँच जायगा—

राम गुण गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

तब भक्ति की पराकाष्ठा हो जायगी। शबरी के प्रति राम-गीता में तुलसी ने 'नवधाभक्ति' को ही महत्त्व दिया है—१. सत्संग, २. कथा-गान, ३. गुरु-सेवा, ४. गुण-गान, ५. मंत्र जाप (दृढ़ विश्वासपूर्ण भजन), ६. दम, शील, विरति आदि सज्जन धर्म का पालन, ७. संसार भर के पदार्थों में भगवान को ही देखना, ८. प्रत्येक स्थिति में संतोष, ६. भगवत्विश्वास, निष्कपटता, अनासक्ति-भाव। इनमें से किसी एक से भी भगवान की प्राप्ति संभव बताई गई है। वास्तव में तुलसी की यह नवधाभक्ति शास्त्रीय नहीं है। न इसमें भावना का उत्तरोत्तर विकास है जैसा पंचरात्र और भागवत-कथित नवधाभक्ति प्रकारों में है। वास्तव में तुलसी सभी संतगुणों को भगवान की ओर ले जाता हुआ देखते हैं, जहाँ साधन ही कालांतर में साध्य हो जाता है और उसके द्वारा भक्त लक्ष्य तक पहुँच जाता है। अच्छे भक्त में तो इनमें से सब ही गुण होंगे। इसीसे इसमें कोई क्रम-व्यवस्था नहीं है जैसी लक्ष्मण के प्रति कहे गये भक्ति-योग में है। पुरवासियों के प्रति राम-गीता में मन, वचन, कर्म से द्विज-सेवा को भक्ति का प्रथम सोपान कहा गया है जिसका फल सत्संगति है जिससे अन्ततः राम-भक्ति की प्राप्ति होती है। दूसरा साधन है शंकर-भजन। तुलसी के अभिधेय राम-भक्ति पथ में योग, यज्ञ, जप, तप, उपवास निषिद्ध हैं। उसका आधार है सदाचरण। स्वभाव की सरलता, मन की निर्दोषता, यथालाभ संतोष, निष्काम सेवा-भाव और फल-प्राप्ति की ओर से अनासक्ति। वैर नहीं, विग्रह नहीं, आशा नहीं, भय नहीं। अक्रोधी, पुण्यशील, अनघ, दक्ष, विज्ञानी, अनारंभ, अनिकेत, अमानी, सत्संगी, अनासक्त, सुख-दुख में समभावशील—यहाँ तक कि भक्ति-पथ में भी हठ नहीं करे—ये उच्चाचरण भगवत्प्राप्ति के साधन बताये गये हैं। यह "सरल भक्ति-मार्ग" है।

वास्तव में तुलसी का भक्ति-योग अत्यंत सहज मार्ग है। वेद-शास्त्र-सम्मत समस्त पुण्याचरणों का उपसंहार राम-भक्ति की प्राप्ति

में है—यह तुलसी का अभिधेय है। सब साधनों का फल राम-भक्ति ही है। इतना सब होते हुए भी तुलसी को कुछ साधन विशेष प्रिय हैं—

(१) राम-गुण-गान जो भजन, नामस्मरण, कथा-वार्ता आदि के रूप में कई प्रकार से हो सकता है।

(२) भगवान् का हृदय में ध्यान।

(३) भगवान् के प्रति सेवक-सेव्य भाव।

(४) शुद्धाचरण।

(५) असंतों का त्याग और सत्संग। तुलसी ने सत्संग को अधिक महत्व दिया है—

बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥

(उत्तरकांड)

स्पष्ट है कि तुलसी ने शास्त्रोक्त भक्ति पथ को अत्यंत सहज रूप दे दिया है। तुलसी विधि-विधानों से हट कर एक दम चारित्रिक एवं मानसिक स्तर पर आ ठहरते हैं। उनके भक्ति मार्ग में श्रवण, कीर्तन, नाम-स्मरण और दास्य को ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है यद्यपि विनय-पत्रिका तो सम्पूर्णतयः 'आत्मनिवेदन' ही समझी जानी चाहिये। अर्चन, वंदन, सख्य, पाद-सेवन वल्लभ-कुल के भक्तों के लिए अत्यत महत्वपूर्ण हैं और उन्होंने उपास्य-देव की पूजा के नित्य और नैमित्तिक विधि-विधानों को अत्यंत रोचक और हृदयग्राही विस्तार दिया है। परंतु तुलसी का भक्तिमार्ग इन वाह्याचारों को स्वीकार नहीं करता। सख्य तो उनके अनन्य स्वामी-सेवक भाव का विरोधी ही ठहरा। वस्तुतः श्रवण, कीर्तन, नाम-स्मरण को हम भगवत्गुण-गान के एक शीर्षक के भीतर ला सकते हैं। भगवान् के प्रति दास्य-भाव रखते हुये उनका नाम-स्मरण और लीला-गान करना और उनमें आनंद-भाव

रखना और अनासक्त रहना एवं निष्काम भक्ति करना—ये तुलसी के भक्ति-मार्ग की विशेषताएँ हैं।

(ङ) नन्ददास

वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव के आधार पर ही पुष्टि-भक्ति का आयोजन खड़ा किया था। उनके भक्ति-सम्बन्धी सिद्धांत हमें उपलब्ध नहीं हैं—केवल "निरोधलक्षणम्" में ही हम उनके कुछ अवशेष पाते हैं। इससे प्रगट होता है कि वल्लभाचार्य भक्ति में कर्मकांड की नितांत अवहेलना का भी उपदेश करते थे। उनके अनुसार भक्त नंद-यशोदा, गोपी-गोप भाव से कृष्ण का अपना अत्यंत समीप का भावुक सम्बन्ध जोड़े और अपने हृदय में इनकी अनुभूति प्राप्ति की चेष्टा करे। नन्द-यशोदा का कृष्ण के प्रति भाव वात्सल्य का था इसमें कोई भेद नहीं। इसलिए यह तो निर्विवाद है कि वल्लभ वात्सल्य भक्ति के उपदेशक थे। गोपों का भाव भी या वात्सल्य का होगा या सख्य का। इस प्रकार सख्य भक्ति की भी आयोजना हो जाती है। परन्तु गोपियों के भाव से उनका क्या तात्पर्य था, यह चिंत्य है। भागवत से हमें मालूम होता है कि कुछ गोपियाँ वात्सल्य भाव से कृष्ण से स्नेह रखती थीं, कुछ जार-भाव से, कुछ पत्नी भाव से। किस प्रकार का सम्बन्ध आचार्य को ग्रहीत है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु उन्होंने कभी भी गोपियों के भाव का उल्लासपूर्ण शृङ्गारिक वर्णन नहीं किया। उन्हें "श्रुतियों का अवतार" "समारोह-रूपा लक्ष्मी" कह कर उनके काम-भाव का परिष्कार ही किया है। इससे तो यही समझ पड़ता है कि वे मधुर भक्ति के पोषक नहीं थे। यद्यपि चैतन्य के मित्र होने के नाते उसके स्वरूप और साहित्य से वे विशेष रूप से परिचित रहे होंगे। उन्होंने कहा—भक्त का मुख्य भाव 'पुष्टि' होना चाहिये। वह अपने को भगवान की कृपा पर डाल दे। वही उसका पोषण करेंगे, उसके भक्तिभाव को दृढ़ करेंगे, और अनायास

ही परिश्रम-विगत कर उसे भवसागर से तारेंगे। बाद को संप्रदाय में किन-किन प्रभावों के कारण शृंगार-भक्ति की प्रधानता हो गई, यद्यपि पूजोपचार बालकृष्ण का ही चलता रहा—यह अलग विषय है।

नन्ददास जब वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुये तो उसमें भक्ति के तीन रूप प्रतिष्ठित थे—(१) वात्सल्य, (२) सख्य, (३) मधुर या रति-भाव। नन्ददास में रसिकता की मात्रा विशेष थी। वे बालक के हाव-भाव पर रीझनेवाले पुरुष नहीं थे। उनकी सहृदयता-शृंगार-वर्णन में ही उमड़ती थी। वे पहले दास्य भाव के भक्त थे, परन्तु उनका मन इस प्रकार की भक्ति में नहीं लगता था। वे तब भी नाटक-तमाशे देखते थे। ये यात्रा के ढंग के स्वाँग भँडुए रहे होंगे। इसीसे वात्सल्य राज की भक्ति की अधिक रचनाएँ उनके साहित्य में नहीं मिलतीं। वे सूरदास के शिष्य थे। इस नाते, कुछ संप्रदाय की बाल-भक्ति के अनुरोध से, इस सम्बन्ध में कुछ सुन्दर पद उन्होंने अवश्य रचे जैसे—

आज सिंगार स्यामसुन्दर को देखै ही बनि आवै
स्याम पाग अरु स्वेत चोलना छूटे बंद सुहावै
मोतिनमाल हार उर ऊपर कर मुरलीजु बजावै
'नन्ददास' प्रभु रसिक कुँवर को ले उछंग हलरावै

यहाँ भी बाल-कृष्ण 'प्रभु रसिक कुँवर' ही हैं, नवनीत-प्रिय नहीं। एक पद है—

छगन-मगन वारे कन्हैया नेकु उरे धों आउ रे लाला
वन में खेलत जात लाल ह्वै रहे सब मलीन गात
अपने लाल की लेहुँ बलाय रे लाला
संग के लरिका सब आनि ठनि आये हो कहेंगे कैसे
है तेरी माय रे लाला
यशोदा गहत धाय बैयाँ मोहन करत न्हैयाँ न्हैयाँ
नन्ददास बलि जाय रे लाला

एक दूसरे पद में उनका बालकृष्ण (नन्दसुवन) में भक्ति-भाव स्पष्ट रूप से प्रगट है—

नन्दभवन को भूषण माई
यशोदा के लाल वीर हलधर को राधारवन सुखदाई
इन्द्र को इन्द्र देवन देवन को ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई
काल के काल ईश ईशन को वरण को वरण महावरदाई
शिव को धन संतन को सर्वस महिमा वेद पुरानन गाई
'नन्ददास' को जीवन गिरिधर गोकुलमंडन कुँवर कन्हाई

एक अन्य गीत में वे बालकृष्ण की क्रीड़ा-भूमि के नाते ही 'नन्दगाँव' में रहना चाहते हैं—

नन्दगाम लागत मोको नीको लागत री
प्रात समे दधि मथत ग्वालिनी सुनत मधुर ध्वनि गावत री
धन्य गोपी धन्य ग्वाल जिन्हके मोहन उर लागत री
हलधर संग ग्वाल सब राजत गिरिधर ले ले दधि माँगत री
जहाँ बसत सुरदेव महामुनि एकौ पल नहीं त्यागत री
'नन्ददास' को यह कृपाफल गिरिधर देखे मन लागत री

परन्तु मुख्य रूप से नंददास मधुर-भक्ति को ही साधना बना कर चले हैं यद्यपि एकाध जगह सख्य-भक्ति भी मिल सकती है। जैसे—

माई री प्रातकाल नन्दलाल पाग बँधावत
बाल दिखावत दर्पण भाल रह्यो लीन
सुन्दर नव किरन बीच मंजु मुकुर की छवि रही फबि
मानो गहि आन्यो है युग कमलन शशि
बिचबिच चित के चोर मोरचंद्र माथे दिये
तिन ढिंग रत्नपेंच बाँधत है कस
'नन्ददास' ललतादिक ओट भये
अवलोकत अतुलित छवि कहि न जात फूल झरे हो

वास्तव में सख्य-भक्ति और मधुर-भक्ति में विशेष अंतर नहीं था।

सख्य भक्ति में भक्त कृष्ण का सखा बन जाता था और इस प्रकार अपने सख्य भाव के कारण कृष्ण की गोप्य से गोप्य लीलाओं में भाग लेता था। कृष्ण की ये लीलायें उनका राधा और गोपियों से शृङ्गारिक हास-विलास, क्रीड़ा-केलि, आलिंगन-परिरंभन, चुंबन-रति आदि ही हैं। इनमें भाग लेने के अधिकारी या तो ललितादि राधा की सखियाँ या "अष्टसखा" हैं। साधना के इस प्रकार सखा-सखी-भाव का नंददास की रचनाओं पर क्या प्रभाव पड़ा यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु कदाचित् यह साधना एवं भावोत्कर्ष मात्र के साधन थे। वैसे नंददास ने अपनी रचनाओं में कृष्ण की सभी लीलाओं को अपना विषय बनाया है और उनके अत्यंत निकट उपस्थित होकर रचना की है। भावना-क्षेत्र में यह बात संभव है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है। उनका प्रसिद्ध पद है—

देखौ देखो री नागरनट निर्तत कालिंदी तट,
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक
काछिनी किंकिनी कटि, पीताम्बर की चटक
कुंडल किरन रविरथ की अटक
ततथेई ताताथेई सबद करन उघट
उरप तिरप गति परै पग की पटक
रास में राधे-राधे मुरली में एक रट
'नन्ददास' गावै तहँ निपट निकट

यह पद जब देशाधिपति अकबर बादशाह के सामने गाया गया, तो उन्होंने पूछा—यह निपट निकट कैसा ? स्वयं नंददास ने इसे गोप्य रखा, परन्तु बीरबल ने उनकी आकस्मिक मृत्यु के बाद उसे बता दिया कि यह बात कैसे बताई जाती। विट्ठलनाथजी ने भी नंददास की प्रशंसा की। वास्तव में "यह तो भाव की बात है"—इसे बताने के लिए नंददास के पास कौन-सा तर्क था, कौन-से शब्द थे ?

परन्तु नंददास का कोई भी पाठक इसे भूल नहीं सकता कि

उन्होंने "रसिकमय, रसमय, रसकारन" नंदकुमार को अपना विषय बनाया था। इसे ही हम शृङ्गार-भक्ति या मधुर-भक्ति कह सकते हैं। साधारण भक्ति और शृङ्गार-भक्ति में महान् अंतर है। नंददास के काव्य को समझने के लिए इस अंतर को भली-भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए। भक्ति को हम नवरसेतर एक रस कह सकते हैं। नवरसों में उसका सीधा संबंध शांत-रस से है। शांत-रस के सहायक अद्भुत और वीभत्स हैं। इन तीनों का सतोगुण से संबंध है। इस प्रकार साधारण भक्ति-काव्य में इन तीनों का समावेश होगा। इनमें वीभत्स-रस आत्म-रक्षा-भाव से पलायन की प्रवृत्ति है। और अद्भुत रस में औत्सुक्य और निर्माण की प्रवृत्ति है। शांतरस स्वयं निवृत्ति-मूलक है। प्रवृत्तियों को उसमें स्थान नहीं मिलता, परन्तु भक्तिरस की वह सीढ़ी है। वास्तव में वीभत्स और औत्सुक्य से गुज़र कर शांत-रस में होता हुआ भक्त भक्तिरस को प्राप्त करता है।

शृङ्गारात्मक भक्ति का पहला उद्रेक कबीर में मिलता है। वे अद्धात्मक आदि-सत्ता से प्रेम का नाता जोड़ते हैं और उसके विरह-मिलन के गीत गाते हैं। वास्तव में कबीर के भक्ति-काव्य में शृङ्गार के अतिरिक्त भी अनेक आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मिलेंगी। तुलसी में भी लगभग यही प्रवृत्तियाँ कम-अधिक मिलेंगी। परन्तु दैन्यभाव की अधिकता के कारण अस्तित्व-स्थापना का अभाव है। राम के प्रति जो उनका तीव्र आकर्षण है, वह ठीक उस तरह रतिभाव के अंदर नहीं आता जैसे कबीर का राम के प्रति आकर्षण। रामचरितमानस की समाप्ति पर तुलसी कहते अवश्य हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि × ×
× × × × प्रिय लागो मोहि राम
(उत्तरकांड)

वल्लभाचार्य के मत में दैन्यभाव (अधीनता-प्रवृत्ति) का (जहाँ तक

इष्टदेव का सम्बन्ध है) कोई स्थान नहीं था। उनकी भक्ति में मुख्य भाव या तो वात्सल्य था जिसके कारण स्नेहादि कोमल गुणों की उत्पत्ति होती है, या उत्सुकता का भाव, जिसने उन्हें कृष्ण की रहस्य-लीलाएँ गाने को बाधित किया। उनकी सुन्दरतम कविता में न पलायन वृत्ति है, न अंतर्मुखी द्वंद की प्रवृत्ति, न आत्मघृणाभाव, न अधीनता, न अस्तित्व-स्थापन। उनकी भक्ति रागात्मक है। तीव्र राग केवल शृङ्गार की भाषा से ही प्रगट होगा। "मनुष्यों के सम्बन्धों में सबसे अधिक निकट का सम्बन्ध दाम्पत्य प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का संबंध इससे भी ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। यही शृङ्गारी उपासकों की उपासना का मूल आधार है। जो सम्बन्ध हमारे ज्ञान में सबसे उत्तम हो, ईश्वर का सम्बन्ध उससे भी अधिक उत्तम होना चाहिये। यूरोप में भी ईसाई सम्प्रदाय को मसीह की स्त्री माना जाता है और दाम्पत्य प्रेम को प्रेम का आदर्श कहा गया है। सुलेमान का गीत—जिसको श्रेष्ठ गीत कहा जाता है—शृङ्गार की भाषा से पूर्ण है।"

(नवरस, पृ० १३६-३७)

साधारण तौर पर मधुर भक्ति के अर्थ हैं—भगवान् में प्रियतम या प्रियतमा भाव। कबीर और मीरा इसके श्रेष्ठतम उदाहरण हो सकते हैं। परन्तु कृष्ण-भक्तों की भक्ति में मधुर-भक्ति इस रूप से नहीं आई है। गोपियों की भक्ति भक्त का आदर्श है। वह स्वयं गोपी बन कर प्रियतम के रूप में कृष्ण को नहीं रिझाता। उसकी भक्ति मन का ही संकल्प है। भक्त अपने मन में गोपियों की-सी मिलनाकांक्षा और वियोग का अनुभव करता है। यह भक्ति वह कैसे प्रगट करे? क्या वह उस तरह का आत्माभिव्यक्ति-प्रधान काव्य लिखे, जैसा कबीर के साहित्य में है। वह ऐसा नहीं करता। वह अपना आत्मचिंतन और समर्पण गोपी-कृष्ण के प्रेम-विरह में भी प्रगट करता है। गोपियों का मिलन-सुख नंददास का ही संकल्पात्मक मिलन-सुख

है। उनका विप्रलंभ उनका ही संकल्पात्मक वियोग है। इस प्रकार कवि की सत्ता उसके काव्य में ही प्रतिष्ठित है। नंददास के काव्य में मधुर-भक्ति का यही रूप है। राधा-कृष्ण और गोपियों का जो संयोग-वियोग शृङ्गार है, वह नंददास को लेकर भक्ति है। उनकी तटस्थ भाव से इस लीला में भाग लेने और उसको आत्मा में अनुभव करने की भावना ही इसे भक्ति बना देती है।

(च) हितहरिवंश

हितहरिवंश राधावल्लभीय (हित) संप्रदाय के प्रवर्तक के रूप में मध्ययुग की कृष्ण-भक्ति-धारा में विशिष्ट स्थान रखते हैं, परन्तु उनके काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विशेष खोज नहीं हुई है। जान पड़ता है सूरदास के काव्य और उनकी भक्ति-साधना पर इनका काफ़ी प्रभाव पड़ा है क्योंकि कदाचित् वल्लभाचार्य के पुष्टि-सम्प्रदाय में राधा का प्रभाव और महत्त्व इन्हीं द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। हितहरिवंश राधा को कृष्ण की विवाहिता मानते हैं। राधा स्वामिनी हैं। कृष्ण राधा के नाते ही प्रिय हैं। हितहरिवंश के विचार में युगलकेलि का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है। केलि-श्रांत राधा की चरण-सेवा की भावना ही भक्ति की चरम सीमा है। भक्त मोक्ष नहीं माँगता। राधा की चरण-सेवा ही उसका ध्येय है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की साधना वैयक्तिक साधना ही हो सकती है। ऐसा लगता है कि जयदेव के 'गीत गोविन्दम्' की सारी मान्यताओं को स्वीकार कर हितहरिवंश ने उसे साधना के क्षेत्र में उतारने की चेष्टा की है। जो प्रसंग संदर्भ से इंगित हैं वे ये हैं—निकुंज-केलि, मान, मान-मोचन, सुरति, सुरंगत, जागरण, प्रिया-संग वन-विहार। वास्तव में हित-संप्रदाय में नित्यकर्मों की व्यवस्था वल्लभ सम्प्रदाय से इतर ढंग पर ही है। सेवाएँ हैं—१. मंगला, २. शृङ्गार, ३. भोग, ४. वन-विहार, ५. रास, ६. संकेत, ७. मान, ८. शय्या। नैमित्तिक कर्मों के आधार पर हैं वसंत,

वर्षा, हिंडोल और होली। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सम्प्रदाय में युगल-दम्पति का केवल शृङ्गार-रूप प्रधान है। संभव है, आरम्भ में हितहरिवंश ने सेवाओं की स्थापना नहीं की हो और अनन्य रागानुगा-भक्ति को ही प्रधानता दी हो। बाद को वल्लभ-सम्प्रदाय की लोकप्रियता के कारण हितजी की रचनाओं को लेकर एक सेवा-पद्धति खड़ी कर दी गई हो। हितजी की रचनाओं में सेवा-पद्धति की कहीं झलक नहीं है। केवल युगल केलि (निकुंज-विहार) और राधा के रूप का ध्यान ही उपादेय है। इस सेवा-पद्धति में शृङ्गार कृष्ण-राधा की ही प्रतिष्ठा है। यहाँ मान भी अपेक्षित नहीं। जहाँ राधा-कृष्ण सदा साथ रहते हैं, वहाँ केवल संभ्रम-मान की योजना ही होगी। राधा कृष्ण के हरिपदक में अपनी छवि देख कर समझती हैं कि कृष्ण का किसी अन्य गोपी पर प्रेम है, अतः वे कुंठित हो जाती हैं—

आजु निकुंज मंजु में खेलत
नवल किशोर नवीन किशोरी
अति अनुपम अनुराग परस्पर
सुनि अभूत भूतल पर जोरी
विद्रुम स्फटिक विविध निर्मित घर
नव कर्पूर पराग बोरी
कोमल किशलय शयन सुपेशल
तापर स्याम निवेशित गोरी
मिथुन हास-परिहास परायन
पीक कपोल कमल पर झोरी
गौर स्याम भुज कलह मनोहर
नीवी-बंधन मोचन डोरी
हरि-उर-मुकुर विलोकि अपनपौ
विभ्रम विकल मानयुग भोरी

चिबुक सुचारु प्रलोप प्रबोधत
पिय प्रतिबिंब जनाय निहोरी
नेति-नेति वचनामृत सुनि-सुनि
ललितादिक देखत करि चोरी
हितहरिवंश करुणा कर धूनन
प्रणय-भेद मालावलि तोरी

इस प्रकार के अनेक वर्णन हित-सम्प्रदाय की रसपूर्ण साधना-पद्धति के प्राण हैं। जिस निकुंजकेलि का ध्यान हितजी ने प्रतिष्ठित किया उसका स्वरूप आदर्श-विरोधी भले ही हो, इंद्रियपरायण गृहस्थ भक्तों को तो अत्यन्त मधुर जान पड़ा होगा। एक उदाहरण--

प्रात समय दोऊ रस लम्पट
सुरत जुद्ध जय-युत अति फूल
श्रम वारिज घन विन्दु वदन पर
भूषण अंगहि अंग विकूल
कछु रह्यो तिलक शिथिल अलकावलि
वदन कमल मानो अलि भूल
हितहरिवंश यह रँग रँगि रहे
नैन बैन कटि शिथिल दुकूल

हितहरिवंश ने इसी प्रकार के प्रसंग ग्रहण किये हैं और इन्हीं को लेकर मधुर उपासना की एक नई धारा का प्रवर्तन किया है। जो चीज़ हितहरिवंश में एकांतत: आध्यात्मिक बन गई है, वह है निकुंजलीला। यह निकुंजलीला रहस्य है। राधा-कृष्ण का यह एकांत विलास अद्भुत है, अनिर्वचनीय है, भक्त के अनुभव भर करने की चीज़ है। भगवान् की लीला में अपने इंद्रिय रूपों का पर्यावसान करता हुआ यह उसी में तिरोभूत हो जाता है।

(छ) मीरा

मीराबाई का आदर्श ब्रज की गोपियाँ थीं। वे स्वयं अपने को ललिता का अवतार समझती थीं, ऐसा प्रसिद्ध है। जो हो, यह निश्चित है कि पति के देहांत के उपरांत मीरा ने 'गिरिधरदास' (कृष्ण) से अपना नाता जोड़ लिया था और उनकी प्रीति में ही दीवानी रहने लगी थीं। वह कृष्ण की प्रीति को युग-युग की प्रीति मानती हैं और उन्हें पूर्वजन्म का साथी कहती हैं—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ॥ टेक ॥
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके संगि खेलूँ, ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोइ पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उन बिनि पल न रहाऊँ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ॥

कहीं वह स्वयं को गोकुल की अहीरिनी बताती हैं—

हरिजी सूँ बाँध्यो हेत, दास मीराँ तरै जोइ
पतित पावन प्रभु गोकुल अहीरणी

कहीं स्वकीया की भाँति बाँह गहे की लाज की याद दिलाती हैं—

म्हारे घर होता जाज्यो राज ॥ टेक ॥
अब के जिन टाला दे जाओ, सिर पर राखूँ विराज।
म्हे तो जनम-जनम की दासी, थे म्हांका सिरताज।
पावणड़ा म्हांके भलां ही पधारो, सब ही सुधारण काज।
म्हे तो बुरी छां थांके भली छै घणेरी, तुम हो एक रसराज।
थांने हम सबहिन की चिंता, तुम सबके हो गरिब निवाज।
सबके मुकुट सिरोमनि सिर पर मानुँ पुण्य की पाज।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बांह गहे की लाज॥

इस प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक कृष्ण भगवान् को ऊँचे सिंहासन से उतार कर अत्यन्त निकट का सम्बन्ध स्थापित करने लगती हैं। इस निकट के सम्बन्ध को लेकर ही मीरा प्रभु-मिलन-वियोग के संकल्पनात्मक सुख-दुःख के गीत गाती हैं। वास्तव में यह मिलन-वियोग मन की प्रतीति है, इसी से रहस्यात्मक है। कभी तो मीरा को यह अनुभव होता है कि प्रीतम दूर चला गया है। उसने उसकी सुधि बिसार दी है, न जाने वह कब मिले, कैसे मिले। वह चिंता करती है—

गोविंद कबहुँ मिलै पिया मोरा ॥ टेक ॥
चरण कँवल कूँ हँसि हँसि देखूँ राखूँ नैणाँ नेरा।
निरखण कूँ मोहि चाव घणेरो, कब देखूँ मुख तेरा।
व्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज, मिलि हूँ मीत सवेरा।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, ताप तपन बहुतेरा ॥

वह उस परदेसी प्रियतम से अनुनय-विनय करती है कि वह उसकी सुध ले—

म्हाँरो सुध ज्यूँ जानो ज्यूँ लीजो जी ॥ टेक ॥
पल-पल भीतर पंथ निहारूँ, दरसण म्हाँने दीजो जी।
मैं तो हूँ बहु औगुणहारी, औगुण चित मत दीजो जी।
मैं तो दासी थाँरे चरण कँवल की, मिलु बिछुरन मत कीजो जी।
मीराँ तो सत गुर जी सरणे हरि चरणाँ चित दीजो जी।

परन्तु जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब आंतरिक स्फूर्ति जाग्रत होती है। ऐसे क्षणों में प्रियतम पास ही आया लगता है। उस समय सारी प्रकृति, सारे घर-बाहर के व्यापार जैसे प्रियतम के आने के समाचार से बदल से जाते हैं। सावन में काली-काली घटाओं का शब्द सुन कर मीराँ गाती है—

झुक आई बदरिया सावन की,
सावन की, मनभावन की ॥ टेक ॥

सावन में उमँग्यो मेरो मनवा,
भनक सुनी हरि आवन-की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिस से आयो,
दामण दमक झर लावन की।
नन्हीं-नन्हीं बूँदन मेहा बरसै,
सीतल पवन सोहावन की।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर,
आनँद मंगल गावन की॥

कभी इतना बोध भी जाता रहता है। प्रियतम तो घर लौट कर आ ही गया। विरह-द्वन्द का अंत हो गया—

सहेलियाँ साजन घरि आया हो ॥ टेक॥
बहोत दिना की जोवती, बिरहणि पिव आया, हो।
रतन करूँ नेवछावरी, ले आरिति साजूँ, हो।
पिया का दिया सनेसड़ा, ताहि बहोत निवाजूँ, हो।
पाँच सखी इकठी भई, मिलि मंगल गावै, हो।
पिय का रली बधावणां, आँणद अंगि न मावै, हो।
हरि सागर सूँ नेहरो, नैणाँ बँध्या सनेह, हो।
मीरा सखी के आँगणै, दूधाँ बूठा मेह, हो॥

एक होली भी सुनिये—

फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे ॥ टेक॥
बिनि करताल पखावज बाजै अहनद की झणकार रे।
बिनि सुर राग छतीसूँ गावै, रोम-रोम रँगसार रे।
सील संतोख की केसर घोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत अंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोकलाज सब डार रे।
होरी खेलि पीव घर आये, सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल बलिहार रे॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा में कृष्ण प्रतीक मात्र रह गये हैं—उनका ऐतिहासिक, पौराणिक और पारमार्थिक अस्तित्व समाप्त हो गया है। उन्हें यदि कहीं ढूँढ़ा जा सकता है तो मीरा के अपने अस्तित्व में। कदाचित् ईश्वर-मनुष्य की धर्म-भावना का यह चरमोत्कर्ष है जब वह हृदय के अंतरतम में प्रवेश कर अन्यतम बन जाता है। मीरा कहती हैं—

हा काँनाँ किन गूँथीं जुल्फा कारियाँ ॥ टेक ॥
सुघर कला प्रवीन हाथ सों, जसुमति जूने सँवारियाँ ॥
जो तुम आओ मेरी बाखरियाँ, जरिराखूँ चंदन किवारियाँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, इन जुलफन पर वारियाँ ॥

कभी-कभी वह अपने को कृष्ण की परंपरा-प्रसिद्ध-प्रिया राधा मान लेती हैं—

आवत मोरी गलियन में गिरधारी,
मैं तो छुप गई लाज की मारी ॥ टेक ॥
कुसुम पाग केसरिया जामा, ऊपर धूल हजारी।
मुकुट ऊपर छत्र विराजे, कुंडल की छवि न्यारी ॥
केसरी चीर दरयाई को लैंगो, ऊपर अँगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी, छिप गई राधा प्यारी ॥
मोर मुकुट मनोहर सोहैं, नथनी की छवि न्यारी।
गजमोतिन की माल विराजे, चरण कमल बलिहारी ॥
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुणजे किसन मुरारी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, चरण-कमल पर वारी ॥

कभी परकीया-मुख से उलाहना देती हैं—

छाँडो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना ॥ टेक ॥
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।
जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा में कृष्ण प्रतीक मात्र रह गये हैं–उनका ऐतिहासिक, पौराणिक और पारमार्थिक अस्तित्व समाप्त हो गया है। उन्हें यदि कहीं ढूँढ़ा जा सकता है तो मीरा के अपने अस्तित्व में। कदाचित् ईश्वर-मनुष्य की धर्म-भावना का यह चरमोत्कर्ष है जब वह हृदय के अंतरतम में प्रवेश कर अन्यतम बन जाता है। मीरा कहती हैं—

हा काँनाँ किन गूँथीं जुल्फा कारियाँ ॥ टेक ॥
सुघर कला प्रवीन हाथ सों, जसुमति जूने सँवारियाँ ॥
जो तुम आओं मेरी बाखरियाँ, जरिराखूँ चंदन किवारियाँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, इन जुलफन पर वारियाँ ॥

कभी-कभी वह अपने को कृष्ण की परंपरा-प्रसिद्ध-प्रिया राधा मान लेती हैं—

आवत मोरी गलियन में गिरधारी,
मैं तो छुप गई लाज की मारी ॥ टेक ॥
कुसुम पाग केसरिया जामा, ऊपर धूल हजारी।
मुकुट ऊपर छत्र विराजे, कुंडल की छवि न्यारी ॥
केसरी चीर दरयाई को लँगो, ऊपर अँगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी, छिप गई राधा प्यारी ॥
मोर मुकुट मनोहर सोहैं, नथनी की छवि न्यारी।
गजमोतिन की माल विराजे, चरण कमल बलिहारी ॥
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुणजे किसन मुरारी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, चरण-कमल पर वारी ॥

कभी परकीया-मुख से उलाहना देती हैं—

छाँडो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना ॥ टेक ॥
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।
जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना॥

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद्ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिती शब्द्यते ॥ (१-२-११)

अर्थात् जिस वस्तु को तत्त्वज्ञानी लोग तत्त्व, अव्यय, ज्ञान, ब्रह्म व परमात्मा नाम से अभिहित करते हैं उसीको भगवान भी कहा जाता है। उनका इष्टदेव, इस तरह, निर्गुण होता हुआ भी 'भगवान' है।" (मीरावाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृ० २४-२५)

यह निर्गुण-सगुण का प्रश्न वास्तव में कोई बड़ा प्रश्न नहीं है। कबीर और दादू निर्गुण के उपासक हैं; सूरदास, तुलसीदास और मीरा सगुण के। परन्तु दोनों प्रकार के भक्तों में एक ही प्रकार की रागात्मका वृत्ति है। उसमें तन्मयता और तीव्रता की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। भगवत-विषयक-रति, चाहे भगवान की कल्पना निर्गुण हो या सगुण, रागात्मक अवश्य होगी और राग का सर्वोत्कृष्ट रूप 'काम' है। 'कामिहिं नारि पियारि जिमि प्रिय लागो मोहि राम'—कहकर तुलसी उसी बात को स्वीकार करते हैं। यदि मीरा की पतिभावा भक्ति हमारे अन्तस्तल के तंतुओं को अधिक स्पर्श करती है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह भक्ति-भावना लौकिक का रूप ग्रहण कर लेती है और परत्पर परब्रह्म बालक की भाँति अजिर में खेलने ही नहीं लगती, हृदय में घुस कर हमारे भीतर की अत्यंत अभिन्न वस्तु बन जाती है। वास्तव में भावना की दृष्टि से संत कवि (कबीर, दादू) और मीरा एक ही भूमि पर खड़े हैं। इन्होंने भगवान को 'जार' रूप से देखा है और एक अत्यंत रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। सूरदास और तुलसीदास इतनी दूर नहीं जाते। वात्सल्य और दास्य-भावनाओं में उतनी तन्मयता, उतनी तीव्रता, मिलन-वियोग की उतनी गहरी संवेदना सम्भव नहीं।

ऊपर भक्ति-भावना और प्रसिद्ध भक्तों के सम्बन्ध में हमने जो विस्तारपूर्वक लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि भक्ति का कोई एक सुस्थिर रूप नहीं है। वह जीवंत साधना है जो शास्त्र की परिपाटियों में पूरी

तरह बँध नहीं पाई है। वह हृदय-मन-आत्मा की गहरी खोज है--उसके अनेक रूप हो सकते हैं। हमारे देश में अत्यंत प्राचीन काल से भक्ति के अनेक रूप प्रचलित थे। मध्ययुग में इन अनेक रूपों को साधना के लिए ग्रहण किया गया परन्तु सामयिक प्रभावों के कारण भक्ति के नये-नये रूप भी विकसित हुए। इस से भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उस युग में कुछ अत्यंत उच्च कोटि के भक्त हमारे देश में उत्पन्न हुए। उन्होंने शास्त्रों से बहुत कुछ सीखा, अपने चारों ओर के भक्तिपूर्ण वातावरण से भी बहुत कुछ लिया, परन्तु उन्होंने मूलतः भक्ति को वैयक्तिक साधना बनाया और आत्म-परिष्कार के लिए इस साधना का प्रयोग किया। सूरदास, तुलसीदास, दादूदयाल, नानक, मीरा, हितहरिवंश, चैतन्य--ये तो कुछ ऐसे व्यक्ति थे ही जिनमें दैवी ज्योति प्रकाशवान थी, परन्तु और भी सैकड़ों भक्त-संत-महात्मा ऐसे हुए जिन्होंने अराजकता के उस युग में जीवन-संस्कार के नये संदेश दिये।

भक्ति-काव्य का कला-पक्ष

कला की दृष्टि से हिन्दी का भक्ति-काव्य अन्य काव्यधाराओं से कहीं अधिक पुष्ट है। जैसा हम बता चुके हैं, हिन्दी भक्ति-काव्य का जन्म विद्यापति (१३७५-१४४८ ई०) से होता है। विद्यापति पंडित कवि थे। उन्होंने जयदेव, कालिदास और अन्य संस्कृत कवियों और आचार्यों से बहुत कुछ ग्रहण किया। विद्यापति के काव्य में लोकोक्तियों का अत्यंत प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है और उनके कूट पद उनके भाषा-ज्ञान और शब्दकोष के सहारे ही खड़े हो सके हैं। जहाँ तक राधाकृष्ण के शृंगार-प्रसंगों का सम्बन्ध है, वे बराबर प्राचीन शास्त्रों की परंपरा का पालन कर रहे हैं। चंडीदास की तरह वे सहज कवि नहीं हैं। उनकी कल्पना भी पांडित्यप्रसूत है और उनके काव्य में कल्पना की प्रधानता है। उन्होंने काव्य-रूढ़ियों, परंपराओं, रीति, संस्कृत शब्द-कोष—सब का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। जहाँ पांडित्य और हृदयानुभूति का मेल हुआ है वहाँ विद्यापति के पद अद्वितीय हो गये हैं। प्राचीन संस्कृत काव्य में नखशिख लिखने की एक परिपाटी चली आती थी जिसका उद्देश्य नायक-नायिका के अंगों का क्रमशः वर्णन करना होता था। विद्यापति का अधिकांश सौन्दर्यांकन 'नखशिख' के अंतर्गत ही आता है। नखशिख-परंपरा में जो उपमान-उपमेय बराबर चले आते थे, उन्हीं को विद्यापति ने ग्रहण किया। विद्यापति के हाथ की 'काव्य प्रकाश' (मम्मट) की एक टीका की प्रतिलिपि प्राप्त है। इससे यह स्पष्ट है कि वे केवल मात्र भावुक कवि ही नहीं हैं, वे कलाविलास के सम्बन्ध में अत्यंत जागरूक थे। भक्ति-

काव्य में कल्पना और भावुकता का पहला उन्मेष विद्यापति के काव्य में ही मिलता है। सद्यः स्नाता का एक चित्र देखिये—

केस निगरइत बहे जल-धारा।
चामरे गले जनि मोतिन हारा॥
अलकहिं तीतल तेंहि अति शोभा।
अलिकुल कमले बढ़ेल मधु लोभा॥
नीर निरंजन लोचन राता।
सिंदुर मंडित जनि पंकज पाता॥

बालों से निकलकर जलधारा बहती है, जैसे चँवर में गुँथा मोती का हार टूट रहा हो और मोती झर रहे हों। मुख पर भीगी अलकें इस प्रकार शोभा पाती हैं जैसे मधु के लोभ में भ्रमरगण कमल की ओर आकर्षित होकर चढ़े आते हों। पानी से भीगकर आँखें अंजन-रहित और लाल हो गई हैं मानों सिन्दूरमंडित कमल पत्र हों।) अनुमान उपमाओं को विद्यापति एक अत्यंत अभिनव ढंग से प्रयोग में लाते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

कबरी भय चामरि गिरि कन्दर, मुखभय चाँद अकास
हरिनि नयन भय, स्वर भय कोकिल, गति भय गज बनवास
सुन्दरि काहे मोहि सम्भापि न आसी
तुअ डर यह सब दूरहि पलायल तू कह काहे उदासी
कुच भय कमल कोरक जल मुदि रहु घट परवेस हुतासे
दाड़िम श्रीफल गगन बास करु शम्भु गरल करु ग्रासे
भुज भय कनक मृणाल पंक रहु कर भय किसलय काँपे

तेरे ही डर से तो ये सब भागकर दूर जा छिपे हैं, तू किस लिये डरती है ? कुच से सफल स्पर्द्धा न कर सकने के कारण कमल-कोष पानी में ही छिपे रहे, घट अग्नि अर्थात् आवा में प्रवेश कर गया, अनार और श्रीफल आकाश में लटक रहे और शिव ने गरल पान कर लिया। तुम्हारी भुजाएँ तो कमल के मृणाल से भी अधिक सुन्दर थीं, अतः कमल पंक में जा रहा। तुम्हारे करतल की समता नहीं कर सकता, अतः किसलय काँपता रहता है।)

गिमि सों लखल मुक्ताहार
कुच युग चकम चरइ गंगधार

(पयोधरों के बीच में गले में लटकता हुआ मोती का हार है मानो गंगा-धारा के दो चकोर क्रीड़ा कर रहे हों।)

कुच युग पर चीकुर फुजि पसरल,
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल,
चाँद विहुन सब तारा॥

(दोनों कुचों के ऊपर खुले हुये काले केश फैल गये हैं। उनमें हार उलझा हुआ है, मानों चंद्रविहीन रजनी में सुमेरु पर्वत के ऊपर तारे चमक रहे हैं।)

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि हिंदी भक्ति-काव्य के आदि-कवि विद्यापति में कल्पना की बड़ी प्रधानता है। उन्होंने पंक्ति-पंक्ति में अलंकारों का प्रयोग किया है। इन अलंकारों पर ही विद्यापति के काव्य की उत्कृष्टता का सेहरा बंधता है। परंतु कहीं कहीं विद्यापति कल्पना और पांडित्य को छोड़ देते हैं और स्वाभाविक और अभि-धात्मक काव्य की भूमि पर उतर आते हैं।

परवर्ती कृष्ण-काव्य पर जयदेव और विद्यापति का बड़ा प्रभाव पड़ा। फलतः उसमें भी कला और कल्पना की प्रधानता हो गई। सूरदास (१४७८-१५८३) के काव्य में ये दोनों विशेषताएँ अपने पूरे

तेरे ही डर से तो ये सब भागकर दूर जा छिपे हैं, तू किस लिये डरती है? कुच से सफल स्पर्द्धा न कर सकने के कारण कमल-कोष पानी में ही छिपे रहे, घट अग्नि अर्थात् आवा में प्रवेश कर गया, अनार और श्रीफल आकाश में लटक रहे और शिव ने गरल पान कर लिया। तुम्हारी भुजाएँ तो कमल के मृणाल से भी अधिक सुन्दर थीं, अतः कमल पंक में जा रहा। तुम्हारे करतल की समता नहीं कर सकता, अतः किसलय काँपता रहता है।)

गिरि सों लखल मुक्ताहार
कुच युग चकम चरइ गंगधार

(पयोधरों के बीच में गले में लटकता हुआ मोती का हार है मानो गंगा-धारा के दो चकोर क्रीड़ा कर रहे हों।)

कुच युग पर चीकुर फुजि पसरल,
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल,
चाँद विहुन सब तारा॥

(दोनों कुचों के ऊपर खुले हुये काले केश फैल गये हैं। उनमें हार उलझा हुआ है, मानों चंद्रविहीन रजनी में सुमेरु पर्वत के ऊपर तारे चमक रहे हैं।)

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि हिंदी भक्ति-काव्य के आदि-कवि विद्यापति में कल्पना की बड़ी प्रधानता है। उन्होंने पंक्ति-पंक्ति में अलंकारों का प्रयोग किया है। इन अलंकारों पर ही विद्यापति के काव्य की उत्कृष्टता का सेहरा बंधता है। परंतु कहीं कहीं विद्यापति कल्पना और पांडित्य को छोड़ देते हैं और स्वाभाविक और अभि-धात्मक काव्य की भूमि पर उतर आते हैं।

परवर्ती कृष्ण-काव्य पर जयदेव और विद्यापति का बड़ा प्रभाव पड़ा। फलतः उसमें भी कला और कल्पना की प्रधानता हो गई। सूरदास (१४७८-१५८३) के काव्य में ये दोनों विशेषताएँ अपने पूरे

है। वह सिद्धों और नाथों के काव्य की श्रेणी है। धर्मप्रचार यहाँ मुख्य उद्देश्य है,—साहित्य गौण है, या है ही नहीं। वैष्णव भक्तों का साहित्य पुराणों और संस्कृत काव्यों की साहित्यिक परंपरा को ही आगे बढ़ाता है। उसके आलंब राम-कृष्ण हैं। इन्हें लेकर अनेक काव्यों, नाटकों और पुराण-कथाओं की सृष्टि हुई है। भक्ति कवि की अनुभूति मूलतः मौलिक थी, परंतु उसके इष्टदेवों को लेकर जो विराट संस्कृत साहित्य उसके पूर्व निर्मित हो चुका था, उससे प्रभावित न होना उसके लिए असंभव था। अतः इस स्रोत से ही साहित्य की अनेक भंगिमाओं का प्रयोग इस काव्य में हो गया। सारे कृष्ण-काव्य में (मीरा के काव्य को छोड़कर) जयदेव, भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण और गर्गसंहिता प्रभृति ग्रंथों की साहित्य-परंपराएँ विकसित हुई हैं। रामकाव्य पर नाटक, चंपू और पुराण कथाओं एवं महाकाव्यों के रूप में और भी विशद सामग्री प्राप्त थी। अतः उसमें साहित्य का पुट और भी अधिक रहा।

जो हो, यह निश्चित है कि हिंदी का वैष्णव काव्य (जिसमें संत-काव्य भी सम्मिलित है) हमारी अत्यंत मूल्यवान साहित्यिक निधि है। जहाँ व्यक्तिगत साधना में उसका अपना विशिष्ट स्थान है, वहाँ श्रेष्ठ साहित्य के रूप में भी युग-युग तक वह आनंदित करता रहेगा।

१—रस

रस-विवेचन और रस-पुष्टि की दृष्टि से भक्तिकाव्य अत्यंत संपन्न है। साहित्य के नवरस तो भक्ति काव्य में मिलते ही हैं परन्तु उनका पर्यवसान भक्ति रस और शांत रस में होता है। संतों के काव्य में शांत रस की प्रधानता है, परन्तु प्रकारांतर से अनेक रसों का स्वतः ही समावेश हो गया है। रागात्मका निर्गुण भक्ति में शृंगार भक्ति रस के अनेक तत्वों का समावेश है। इससे शृंगार-भक्ति का जन्म हुआ है। अदृश्य

है। वह सिद्धों और नाथों के काव्य की श्रेणी है। धर्मप्रचार यहाँ मुख्य उद्देश्य है,—साहित्य गौण है, या है ही नहीं। वैष्णव भक्तों का साहित्य पुराणों और संस्कृत काव्यों की साहित्यिक परंपरा को ही आगे बढ़ाता है। उसके आलंब राम-कृष्ण हैं। इन्हें लेकर अनेक काव्यों, नाटकों और पुराण-कथाओं की सृष्टि हुई है। भक्ति कवि की अनुभूति मूलतः मौलिक थी, परंतु उसके इष्टदेवों को लेकर जो विराट संस्कृत साहित्य उसके पूर्व निर्मित हो चुका था, उससे प्रभावित न होना उसके लिए असंभव था। अतः इस स्रोत से ही साहित्य की अनेक भंगिमाओं का प्रयोग इस काव्य में हो गया। सारे कृष्ण-काव्य में (मीरा के काव्य को छोड़कर) जयदेव, भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण और गर्गसंहिता प्रभृति ग्रंथों की साहित्य-परंपराएँ विकसित हुई हैं। रामकाव्य पर नाटक, चंपू और पुराण कथाओं एवं महाकाव्यों के रूप में और भी विशद सामग्री प्राप्त थी। अतः उसमें साहित्य का पुट और भी अधिक रहा।

जो हो, यह निश्चित है कि हिंदी का वैष्णव काव्य (जिसमें संत-काव्य भी सम्मिलित है) हमारी अत्यंत मूल्यवान साहित्यिक निधि है। जहाँ व्यक्तिगत साधना में उसका अपना विशिष्ट स्थान है, वहाँ श्रेष्ठ साहित्य के रूप में भी युग-युग तक वह आनंदित करता रहेगा।

१—रस

रस-विवेचन और रस-पुष्टि की दृष्टि से भक्तिकाव्य अत्यंत संपन्न है। साहित्य के नवरस तो भक्ति काव्य में मिलते ही हैं परन्तु उनका पर्यावसान भक्ति रस और शांत रस में होता है। संतों के काव्य में शांत रस की प्रधानता है, परन्तु प्रकारांतर से अनेक रसों का स्वतः ही समावेश हो गया है। रागात्मका निर्गुण भक्ति में शृंगार भक्ति रस के अनेक तत्वों का समावेश है। इससे शृंगार-भक्ति का जन्म हुआ है। अदृश्य

और दास्य प्रभृति रसों को भी तुलसी नहीं भूले हैं। वास्तव में सारे वैष्णव भक्ति-काव्य में रसों की विभिन्नता और व्यापकता की दृष्टि से तुलसी ही सबसे अधिक सफल हैं। वाल्मीकि में शृंगार की योजना केवल अरण्यकांड में सीताहरण के प्रसंग में है। तुलसी ने प्रसन्नराघव (नाटक) से इङ्गित लेकर राम-सीता के पूर्वराग की चेष्टा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक रसों का सम्बन्ध है हिन्दी का वैष्णव भक्ति-काव्य साहित्य के नवरसों से पुष्ट है। परन्तु यही साहित्य के नवरस भगवत्-विषयक आसक्ति के अनेक प्रकार समझ लिये जा सकते हैं।

२—अलंकार

वैष्णव भक्ति-काव्य की दो विशेषताएँ हैं—

(१) उसमें कल्पना की प्रधानता है।

(२) वह साहित्य शास्त्र से पूर्णत: प्रभावित है। इन दो विशेषताओं के कारण हिन्दी वैष्णव साहित्य में अलंकारों का भी प्रयोग प्रचुर रूप में हुआ है। कृष्ण-काव्य में कल्पना और साहित्य शास्त्र का आग्रह बहुत अधिक है। फलत: विद्यापति के काव्य में ही हमें अनेक अलंकार मिल जाते हैं। अलंकारों के प्रयोग से एक विशेष ढंग की साहित्यिकता का समावेश हो जाता है। कृष्ण-काव्य की अलंकार प्रचुरता उसे लोक-भित्ति से ऊपर उठाकर नागरिकता का अधिकार देती है। साहित्य-शास्त्र द्वारा अनुमोदित लगभग सभी अलंकार सूरदास और अन्य कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में स्थान पा जाते हैं, परन्तु रूपक के अनेक भेदों और उत्प्रेक्षा-अलंकार का प्रयोग कदाचित् अधिक हुआ। दृष्टि-कूट पदों में सांगरूपक का ही प्रयोग अधिक है। उदाहरण के लिए यह प्रसिद्ध पद देखिये—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीडत हैं, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुकपिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु, पियहु सुधारस, मानहुँ अधरनि के बड़भाग॥

उत्प्रेक्षा तो कृष्ण-काव्य का प्राण है। सुन्दर सुन्दर अनेक मौलिक उत्प्रेक्षाएँ हटा लीजिये तो इस काव्य की भित्ति ही ढह जायगी। कहीं-कहीं तो कल्पना की इतनी ऊँची उड़ान कवि लेता है कि मन थक जाता है, उतना ऊँचा उड़ नहीं पाता। राधा का एक चित्र इस प्रकार का है—

बरनौं श्री वृषभानु कुमारि
चित दै सुनहु स्याम सुन्दर छवि रति नाहीं अनुहारि
प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की शोभा कहौं विचारि
मानों फनिग रह्यो पीवन को शशि मुख सुधा निहारि
कहिए कहा सीस सेंदुर को किनौ रही पचि हारि
मानों अरुन किरनि दिनकर की पसरी तिमिरि बिहारि
भृकुटी विकट निकट नैननि के राजत अति वर नारि
मनहुँ मदन जग जीति जेर करि राख्यो धनुष उतारि
ता बिच बनी आड़ केसरि की दीन्हीं सखिन सँवारि
मानों बँधि इंदु मंडल में रूप सुधा की पारि
चपल नैन नासा बिच शोभा अधर सुरंग सुधारि
मनौं मध्य खंजन शुक बैठ्यौ लब्ध्यौ बिंब बिचारि
[illegible] सुघर अधर तर बैठारि चिबुक चारु छबि कारि
[illegible] दुलरी निरखि पर नहिं उपमा कहुँ नारि

सुरंग गुलाल भाल कुच मण्डल निरखत तन मन वारि
मानो निशि निधूम अग्नि के तप बैठो त्रिपुरारि
(सूरसागर स्कं० १०—पद ८३)

दूसरा चित्र देखिये—

प्रिय मुख देखो श्याम निहारि
कहि न जाइ आनन की शोभा रही विचारि-विचारि
छोरोदक घूँघट हातो करि सन्मुख दियो उघारि
मनो सुधाकर दुग्ध सिंधु ते कढ्यो कलंक पखारि
मुक्ता माँग शीश पर शोभित राजत इहि आकारि
मानो उड़गन जानि नवल शशि आये करन जुहारि
लाल-लाल सेंदूर बिंदु पर मृगमद दियो सुधारि
मनो बंधूक कुसुम ऊपर अलि बैठो पंख पसारि
चंचल नैन चहूँ दिशि चितवत युग खंजन अनुहारि
वेसरि के मुक्ता में झाईं करन विराजत चारि
मानो सुर गुरु शुक्र भौम शशि चमकत चंद्र मझारि

इस प्रकार के चित्रों से कृष्ण-काव्य भरा पड़ा है। रूप-सौन्दर्य की इतनी सुन्दर सृष्टियाँ संसार के किसी भी साहित्य में विरल हैं। तुलसी के काव्य में प्रसाद गुण की अधिकता है, परंतु रूपक और उत्प्रेक्षा के प्रयोग उन्होंने भी बहुत किये हैं। सांगरूपक उन्हें विशेष प्रिय है कहीं-कहीं उनकी कल्पना सूरदास को भी पीछे छोड़ जाती है। सीता के सौन्दर्य का ध्यान करते हुए वे कहते हैं—

जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनुपति जानी॥
विष वारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि वैदेही॥
जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानिपंकज निज मारू॥

सुरंग गुलाल भाल कुच मण्डल निरखत तन मन वारि
मानो निशि निधूम अग्नि के तप बैठो त्रिपुरारि
(सूरसागर स्कं० १०—पद ८३)

दूसरा चित्र देखिये—

प्रिय मुख देखो श्याम निहारि
कहि न जाइ आनन की शोभा रही विचारि-विचारि
छोरोदक घूँघट हातो करि सन्मुख दियो उघारि
मनो सुधाकर दुग्ध सिंधु ते कढ्यो कलंक पखारि
मुक्ता माँग शीश पर शोभित राजत हुहि आकारि
मानो उड़गन जानि नवल शशि आये करन जुहारि
लाल-लाल सेंदूर बिंदु पर मृगमद दियो सुधारि
मनो बंधूक कुसुम ऊपर अलि बैठो पंख पसारि
चंचल नैन चहूँ दिशि चितवत युग खंजन अनुहारि
वेसरि के मुक्ता में झाईं करन विराजत चारि
मानो सुर गुरु शुक्र भौम शशि चमकत चंद्र मझारि

इस प्रकार के चित्रों से कृष्ण-काव्य भरा पड़ा है। रूप-सौन्दर्य की इतनी सुन्दर सृष्टियाँ संसार के किसी भी साहित्य में विरल हैं। तुलसी के काव्य में प्रसाद गुण की अधिकता है, परंतु रूपक और उत्प्रेक्षा के प्रयोग उन्होंने भी बहुत किये हैं। सांगरूपक उन्हें विशेष प्रिय है कहीं-कहीं उनकी कल्पना सूरदास को भी पीछे छोड़ जाती है। सीता के सौन्दर्य का ध्यान करते हुए वे कहते हैं—

जो पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनुपति जानी॥
विष वारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानिपंकज निज मारू॥

सीय सुखहिं बरनिअ केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जल स्वाती ॥
रामहिं लखनु बिलोकत कैसे । ससिहि चकोर किसोरकु जैसे ॥
(बालकांड, २६३)

या कैकेयी प्रसंग में दशरथ की दशा की अभिव्यंजना—

सुनि मृदु वचन भूप हिय सोकू । ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा । जनु सचान वन झपटेउ लावा ॥
बिवरन भयउ निपट नरपालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला । फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥
(अयोध्याकांड, २६)

परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि रीति-कवियों की तरह तुलसी, सूर और अन्य भक्त कवि अलंकार लिखने के लिए अलंकार नहीं लिखते। वे इनके द्वारा कथा एवं चरित्रों में काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं परन्तु काव्य-सौन्दर्य उनके लिए धर्म-भावना को विकसित करने का ही साधन है। फिर सभी भक्त-कवि अलंकारों के पचड़े में पड़े हों, यह बात भी नहीं। जहाँ सूरदास का पद-पद उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपक से भरा पड़ा है, वहाँ तीव्र अनुभूति के अनेक निरलंकृत सरस शब्दचित्र भी मिलते हैं। निम्नलिखित पद में कृष्ण के वचनों की माधुरी का कैसा सहज वर्णन है—

सुंदर बोलत आवत नैन
ना जानें तेहि समय सखी री सब तन स्रवन कि नैन
रोम-रोम में शब्द सुरति की नखशिख ज्यों चख ऐन
एते मान बनी चंचलता सुनी न समझी सैन
जब तकि जकि ह्वै रही चित्र-सी पल न लगत चित चैन
सुनहु सूर यह साँच कि विभ्रम सपन किधौं दिन-रैन

कबीर और मीरा का तो अधिकांश काव्य ही अलंकार और पांडित्य से शून्य है। केवल मात्र अनुभूति के माध्यम से ही साधना प्रकट

सीय सुखहिं बरनिअ केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जल स्वाती ॥
रामहिं लखनु बिलोकत कैसे । ससिहि चकोर किसोरकु जैसे ॥
(बालकांड, २६३)

या कैकेयी प्रसंग में दशरथ की दशा की अभिव्यंजना—

सुनि मृदु वचन भूप हिय सोकू । ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा । जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला । फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥
(अयोध्याकांड, २६)

परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि रीति-कवियों की तरह तुलसी, सूर और अन्य भक्त कवि अलंकार लिखने के लिए अलंकार नहीं लिखते । वे इनके द्वारा कथा एवं चरित्रों में काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं परन्तु काव्य-सौन्दर्य उनके लिए धर्म-भावना को विकसित करने का ही साधन है। फिर सभी भक्त-कवि अलंकारों के पचड़े में पड़े हों, यह बात भी नहीं। जहाँ सूरदास का पद-पद उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपक से भरा पड़ा है, वहाँ तीव्र अनुभूति के अनेक निरलंकृत सरस शब्दचित्र भी मिलते हैं। निम्नलिखित पद में कृष्ण के वचनों की माधुरी का कैसा सहज वर्णन है—

सुंदर बोलत आवत नैन
ना जाने तेहि समय सखी री सब तन सुत्रन कि नैन
रोम-रोम में शब्द सुरति की नखशिख ज्यों चख ऐन
एते मान बनी चंचलता सुनी न समझी सैन
जब तकि जकि ह्वै रही चित्र-सी पल न लगत चित चैन
सुनहु सूर यह साँच कि बिभ्रम सपन किधौं दिन-रैन

कबीर और मीरा का तो अधिकांश काव्य ही अलंकार और पांडित्य से शून्य है। केवल मात्र अनुभूति के माध्यम से ही साधना प्रकट

प्रसंग अवान्तर प्रसंग का उचित विकास है। कथा-संगठन में तुलसी ने इस बात का ध्यान रखा है कि वे कम से कम घटनाओं, कार्य-व्यापारों और शब्दों का प्रयोग करें जिससे उसका रूप सुष्ठु बना रह सके। उन्होंने मूलतः पौराणिक शैली को ग्रहण किया है यद्यपि अनेक प्रकार से इस शैली का विकास भी उन्होंने किया है। कृष्ण-काव्य अधिकतः गीतात्मक है, अतः कथा का विकास उसमें उतने विस्तार से नहीं है, न उसमें सौष्ठव ही विशेष है। गीतों के रूप में कथा-विकास की एक नई शैली सूरदास के काव्य में मिलती है। वैसे तुलसीदास के बाद कथा-वर्णन के क्षेत्र में नंददास का नाम ही आता है जिनके रास-पंचाध्यायी और रुक्मिणी मंगल ग्रंथों में अत्यन्त अलंकृत ढंग से कथा विकास मिलता है।

सूरदास और तुलसीदास दोनों मनोभावों के वर्णन के क्षेत्र में अद्वितीय हैं, परन्त सूर की अपेक्षा तुलसी का क्षेत्र अधिक विकसित है। जहाँ तक वात्सल्य और शृङ्गार से सम्बन्धित मनोभावों का क्षेत्र है, वहाँ तक सूर अतुलनीय हैं। वैसे मानव-मन की विभिन्न अंतर्वृत्तियों में जो अंतर्दृष्टि तुलसीदास के अयोध्याकाण्ड में दिखलाई देती है, वह विश्वसाहित्य में भी दुर्लभ है।

४—चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में कथा का आग्रह ही विशेष नहीं है। कथा की पद्धति गीतात्मक होने के कारण चरित्रों की केवल रूपरेखा ही स्थिर हो सकी है। इस क्षेत्र में तुलसी अन्य कवियों को बहुत पीछे छोड़ आते हैं। परंपरागत चरित्रों को अपने भक्ति-भाव और शील संयम और नैतिकता के आदर्शों के प्रकाश में नई रूप-रेखा देना सरल काम नहीं था। चरित्र-चित्रण में तुलसी कितने सफल हुए हैं, यह केवल इस बात से ही प्रगट है कि आज राम-कथा के पात्रों से जनता उसी रूप में

प्रसंग अवान्तर प्रसंग का उचित विकास है। कथा-संगठन में तुलसी ने इस बात का ध्यान रखा है कि वे कम से कम घटनाओं, कार्य-व्यापारों और शब्दों का प्रयोग करें जिससे उसका रूप सुष्ठु बना रह सके। उन्होंने मूलतः पौराणिक शैली को ग्रहण किया है यद्यपि अनेक प्रकार से इस शैली का विकास भी उन्होंने किया है। कृष्ण-काव्य अधिकतः गीतात्मक है, अतः कथा का विकास उसमें उतने विस्तार से नहीं है, न उसमें सौष्ठव ही विशेष है। गीतों के रूप में कथा-विकास की एक नई शैली सूरदास के काव्य में मिलती है। वैसे तुलसीदास के बाद कथा-वर्णन के क्षेत्र में नंददास का नाम ही आता है जिनके रास-पंचाध्यायी और रुक्मिणी मंगल ग्रंथों में अत्यन्त अलंकृत ढंग से कथा विकास मिलता है।

सूरदास और तुलसीदास दोनों मनोभावों के वर्णन के क्षेत्र में अद्वितीय हैं, परन्तु सूर की अपेक्षा तुलसी का क्षेत्र अधिक विकसित है। जहाँ तक वात्सल्य और शृङ्गार से सम्बन्धित मनोभावों का क्षेत्र है, वहाँ तक सूर अतुलनीय हैं। वैसे मानव-मन की विभिन्न अंतर्वृत्तियों में जो अंतर्दृष्टि तुलसीदास के अयोध्याकाण्ड में दिखलाई देती है, वह विश्वसाहित्य में भी दुर्लभ है।

४—चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में कथा का आग्रह ही विशेष नहीं है। कथा की पद्धति गीतात्मक होने के कारण चरित्रों की केवल रूपरेखा ही स्थिर हो सकी है। इस क्षेत्र में तुलसी अन्य कवियों को बहुत पीछे छोड़ आते हैं। परंपरागत चरित्रों को अपने भक्ति-भाव और शील संयम और नैतिकता के आदर्शों के प्रकाश में नई रूप-रेखा देना सरल काम नहीं था। चरित्र-चित्रण में तुलसी कितने सफल हुए हैं, यह केवल इस बात से ही प्रगट है कि आज राम-कथा के पात्रों से जनता उसी रूप में

७

हिन्दी काव्यधारा में भक्ति-काव्य का स्थान

हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उसपर किसी भी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रांतीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कंठमाल हैं।

वैष्णव कवियों के काव्य का जन्म परिस्थितिवश हुआ, परन्तु उसमें भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। उसकी एक बात ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म है वहाँ उच्च कोटि का काव्य भी है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवनस्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। जैसी भक्ति इस साहित्य में है वैसी बाइबिल (अंजील) के कुछ गीतों को छोड़कर पश्चिमी साहित्य में कहीं नहीं मिलेगी। नवधा भक्ति के प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार की भक्ति इसमें है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य अमूल्य है। रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता से कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य के स्वभाव और उसके अंतर्द्वन्द्व के सुन्दरतम चित्र हमें रामचरितमानस में मिलेंगे। राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री-पुरुष के

७

हिन्दी काव्यधारा में भक्ति-काव्य का स्थान

हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उसपर किसी भी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रांतीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कंठमाल हैं।

वैष्णव कवियों के काव्य का जन्म परिस्थितिवश हुआ, परन्तु उसमें भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। उसकी एक बात ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म है वहाँ उच्च कोटि का काव्य भी है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवनस्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। जैसी भक्ति इस साहित्य में है वैसी बाइबिल (अंजील) के कुछ गीतों को छोड़कर पश्चिमी साहित्य में कहीं नहीं मिलेगी। नवधा भक्ति के प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार की भक्ति इसमें है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य अमूल्य है। रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता से कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य के स्वभाव और उसके अंतर्द्वन्द के सुन्दरतम चित्र हमें रामचरितमानस में मिलेंगे। राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री-पुरुष के

है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम।" यह उस समय की बात है जब जात्याभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुगल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा।

वैष्णव काव्य के कुछ आलोचक कृष्ण-काव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लांछन देते हैं। परंतु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठीभर राजा-महाराजाओं की भूमिका को देखते हैं और भूल करते हैं। वे जन-समाज को देखें। राधा-कृष्ण-काव्य ने क्या जन-समाज को व्यभिचारी बनाया है? उसके लिए राधा-राधा हैं, कृष्ण-कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूजनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेमचरित्र के द्वारा रस-परिष्कार का आनंद लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण-काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्य-रस की अनुभूति दी, शृङ्गार को संयमित किया। उसने घर-घर में यशोदा-सी माताएँ दीं। पति-पत्नी के सामने राधा-कृष्ण-प्रेम का आदर्श उसने रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हों या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रँगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे, तरुण पति पत्नी को राधा-रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्ण-राधा के चरित्र को लिया गया तो इतना राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मंदिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जन-समाज का घोर अज्ञान और अंधभक्ति है। कृष्ण साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया है।

न जाने क्यों यह धारणा हो गई है कि भक्ति-आन्दोलन विरक्तों

है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम।" यह उस समय की बात है जब जात्याभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुगल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा।

वैष्णव काव्य के कुछ आलोचक कृष्ण-काव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लांछन देते हैं। परंतु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठीभर राजा-महाराजाओं की भूमिका को देखते हैं और भूल करते हैं। वे जन-समाज को देखें। राधा-कृष्ण-काव्य ने क्या जन-समाज को व्यभिचारी बनाया है? उसके लिए राधा-राधा हैं, कृष्ण-कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूजनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेमचरित्र के द्वारा रस-परिष्कार का आनंद लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण-काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्य-रस की अनुभूति दी, शृङ्गार को संयमित किया। उसने घर-घर में यशोदा-सी माताएँ दीं। पति-पत्नी के सामने राधा-कृष्ण-प्रेम का आदर्श उसने रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हों या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रँगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे, तरुण पति पत्नी को राधा-रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्ण-राधा के चरित्र को लिया गया तो इतना राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मंदिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जन-समाज का घोर अज्ञान और अंधभक्ति है। कृष्ण साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया है।

न जाने क्यों यह धारणा हो गई है कि भक्ति-आन्दोलन विरक्तों

है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम।" यह उस समय की बात है जब जात्याभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुगल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा।

वैष्णव काव्य के कुछ आलोचक कृष्ण-काव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लांछन देते हैं। परंतु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठीभर राजा-महाराजाओं की भूमिका को देखते हैं और भूल करते हैं। वे जन-समाज को देखें। राधा-कृष्ण-काव्य ने क्या जन-समाज को व्यभिचारी बनाया है? उसके लिए राधा-राधा हैं, कृष्ण-कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूजनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेमचरित्र के द्वारा रस-परिष्कार का आनंद लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण-काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्य-रस की अनुभूति दी, शृङ्गार को संयमित किया। उसने घर-घर में यशोदा-सी माताएँ दीं। पति-पत्नी के सामने राधा-कृष्ण-प्रेम का आदर्श उसने रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हो या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रँगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे, तरुण पति पत्नी को राधा-रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्ण-राधा के चरित्र को लिया गया तो इतना राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मंदिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जन-समाज का घोर अज्ञान और अंधभक्ति है। कृष्ण साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया है।

न जाने क्यों यह धारणा हो गई है कि भक्ति-आन्दोलन विरक्तों

सौन्दर्य के इतने अमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में यहीं मिल सकते हैं।

इस साहित्य की यह खूबी है कि इससे हृदय, मन, आत्मा तीनों पुष्ट होते हैं। इसे काव्यानन्द का विषय बनाइये। रसों, अलंकारों, व्यङ्गपूर्ण स्थलों, भावपुष्ट संवादों, उत्तमोत्तम चरित्रों का आनन्द लीजिये; इसे अध्ययन का विषय बनाइये। संसार के संतों और पैगम्बरों के कहे हुए उत्तमोत्तम सिद्धान्त इसमें हैं, ढूँढ़ने की विशिष्ट चेष्टा की आवश्यकता नहीं। चाहो तो मन उन दार्शनिक और आध्यात्मिक गुत्थियों में उलझा लो जो कबीर और तुलसी के साहित्य उपस्थित करते हैं। आत्मा को उच्च बनाने के लिए इसे साधना का विषय बनाइये। इतिहास साक्षी है कि यही साहित्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना को प्रगट करता रहा है और अध्यात्म-साधकों की भूख मिटाता रहा है।

हिन्दी का वैष्णव साहित्य लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। वह काव्य के पंखों पर स्वर्ग और मोक्ष तक उड़ता है परन्तु उसके पैर लोक-हित के कठोर धरातल पर ही रहते हैं। सभी वैष्णव कवियों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, परन्तु सामान्यत: यह बात सत्य से बहुत दूर नहीं है। सन्तों, रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने शील, दया, क्षमा, आत्मावलम्बन, परदु:ख-कातरता, सन्तोष, दम, शम, आदि महान् वैयक्तिक गुणों की प्राप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। उन्होंने अपने जीवन को इन्हीं गुणों पर खड़ा किया था और उनका काव्य इन्हीं सन्देशों के कारण लोक परिष्कार करता रहा है। जिस युग में नैतिक आदर्शों की मर्यादा नितांत जाती रही थी; जो उच्छृंखलता का अंधकार-युग था, उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, संयम और महान् नैतिक गुणों की स्थापना करने की चेष्टा की। इसी कलिभ्रष्ट युग में तुलसी ने हिन्दू मात्र को विजयरथ दिया। आत्म-निर्भरता और अपरिग्रह का सन्देश तो इनमें से प्रत्येक कवि का जीवन ही देता

है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम।" यह उस समय की बात है जब जात्याभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुगल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा।

वैष्णव काव्य के कुछ आलोचक कृष्ण-काव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लांछन देते हैं। परंतु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठीभर राजा-महाराजाओं की भूमिका को देखते हैं और भूल करते हैं। वे जन-समाज को देखें। राधा-कृष्ण-काव्य ने क्या जन-समाज को व्यभिचारी बनाया है? उसके लिए राधा-राधा हैं, कृष्ण-कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूजनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेमचरित्र के द्वारा रस-परिष्कार का आनंद लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण-काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्य-रस की अनुभूति दी, शृङ्गार को संयमित किया। उसने घर-घर में यशोदा-सी माताएँ दीं। पति-पत्नी के सामने राधा-कृष्ण प्रेम का आदर्श उसने रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हों या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रँगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे, तरुण पति पत्नी को राधा-रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्ण-राधा के चरित्र को लिया गया तो इतना राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मंदिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जन-समाज का घोर अज्ञान और अंधभक्ति है। कृष्ण साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया है।

न जाने क्यों यह धारणा हो गई है कि भक्ति-आन्दोलन विरक्तों

की चीज़ रही है, या समाज से उसका कोई भी संबंध नहीं रहा। यह माना कि मूलतः भक्ति वैयक्तिक साधना है। वह उपासक के साथ इष्टदेव का ऐसा संबंध है जिसे उपासक किसी भी माध्यम के विना स्वतः स्थापित करता है। परंतु भक्ति की पहली सीढ़ी है शील और सदाचार का संग्रह। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह श्रेष्ठ वैयक्तिक और सामाजिक गुणों की प्राप्ति करे और अन्ततः भगवत-कृपा का अधिकारी बने। तुलसी की भाँति वह सोचता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ॥
यथा-लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत-मान, समशीतल मन, पर गुन नहिं दोख कहौंगो ॥
परहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
"तुलसीदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥

इस शील और सदाचार की साधना में अनेक सामाजिक गुणों का संग्रह आप ही हो जाता है। भक्त को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संतस्वभाव के अंतर्गत सब कुछ आ जाता है—संतोष, अनासक्ति, परहित-साधन, मिष्ट-भाषण, मानहीनता, समबुद्धि। यही गुण हैं जिन्हें हम समाज के लिए हितकर समझते हैं। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि भक्ति की धारा ने समाज को हानि पहुँचाई। क्या भक्तों के इन उपादेय गुणों ने समाज के प्रतिदिन के वातावरण को प्रकाश से न भरा होगा ? क्या भक्तों का जीवन ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तिगत गुण कालांतर में सारे समाज को पहुँच जाते हैं ?

वास्तव में वैष्णव भक्ति की धारा ने समाज को कई प्रकार से शुद्ध किया है। जिन्होंने वैष्णव आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन

किया है। वे यह जानते हैं कि वैष्णव धर्म हिंसा के विरोध में ही उठा था। अतः समाज को मन, वचन, कर्म से अहिंसक बनाने का प्रयत्न वैष्णव धर्म ने ही किया। यदि बुद्ध के समय में उठी हुई अहिंसा की लहर वैष्णव धर्म के द्वारा हम तक न पहुँची होती तो आज हम महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलनों को एकदम अतफल या अव्यावहारिक पाते। वैष्णव धर्म ने जनता की आत्मा को ईश्वर-विश्वास से दृढ़ किया; उसने भक्ति द्वारा समाज के हृदय का परिष्कार किया, उसने व्यक्तिगत आचरण पर बल देकर समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा की।

जब हम भक्तों और समाज में संबंध जोड़ने बैठते हैं तो अजीव-अजीव बातें कहने लगते हैं। क्या भक्तों का समाज से कोई संबंध है? भक्त समाज में हैं ही कहाँ? उनका साहित्य पराजय, आत्म प्रतारण और अंधविश्वास का साहित्य है। भक्तों ने ईश्वरवाद का भुलावा देकर हमें शताब्दियों तक मुसलमानों का गुलाम बनाये रखा। उन्होंने पाखंड और परलोकवाद को आश्रय दिया। उन्होंने व्यक्तित्व के परिष्करण पर बल देकर समाजत्व की उपेक्षा कराई। भक्त-काव्य पलायनवादी साहित्य है। इस प्रकार के भ्रामक विचार आज हममें घर किये हैं। विचारों को ही सब कुछ माननेवाले लोग यह नहीं जानते कि समाज एक व्यापक वस्तु है और उसमें वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में रहनेवाले मनुष्यों का भी स्थान है। वानप्रस्थी और सन्यासी भी समाज के सदस्य हैं और उसपर प्रभाव डालते हैं। भक्त तो समाज में रह कर जीविका चलाते थे या समाज को ही अपना कर्मक्षेत्र बनाये हुये थे। संतों (कबीर, दादू, नानक प्रभृति निर्गुणवादी भक्तों) ने तो अपना-अपना व्यवसाय और लौकिक व्यवहार भी पूर्णतया बनाये रखा। वे बराबर समाज के सदस्य (गृहस्थ) रहे। कृष्णभक्तों का संबंध बड़े-बड़े मंदिरों से था जहाँ जनता उनके गान-कीर्तन-उपदेश को सुनने के लिये प्रतिदिन उपस्थित होती थी। वस्तुत मंदिर ही मध्ययुग में समाज के केन्द्र हो रहे थे और जनता को वहीं

की चीज़ रही है, या समाज से उसका कोई भी संबंध नहीं रहा। यह माना कि मूलतः भक्ति वैयक्तिक साधना है। वह उपासक के साथ इष्टदेव का ऐसा संबंध है जिसे उपासक किसी भी माध्यम के बिना स्वतः स्थापित करता है। परंतु भक्ति की पहली सीढ़ी है शील और सदाचार का संग्रह। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह श्रेष्ठ वैयक्तिक और सामाजिक गुणों की प्राप्ति करे और अन्ततः भगवत-कृपा का अधिकारी बने। तुलसी की भाँति वह सोचता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ॥
यथा-लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत-मान, समशीतल मन, पर गुन नहिं दोख कहौंगो ॥
परहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
"तुलसीदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥

इस शील और सदाचार की साधना में अनेक सामाजिक गुणों का संग्रह आप ही हो जाता है। भक्त को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संतस्वभाव के अंतर्गत सब कुछ आ जाता है—संतोष, अनासक्ति, परहित-साधन, मिष्ट-भाषण, मानहीनता, समबुद्धि। यही गुण हैं जिन्हें हम समाज के लिए हितकर समझते हैं। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि भक्ति की धारा ने समाज को हानि पहुँचाई। क्या भक्तों के इन उपादेय गुणों ने समाज के प्रतिदिन के वातावरण को प्रकाश से न भरा होगा? क्या भक्तों का जीवन ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तिगत गुण कालांतर में सारे समाज को पहुँच जाते हैं?

वास्तव में वैष्णव भक्ति की धारा ने समाज को कई प्रकार से शुद्ध किया है। जिन्होंने वैष्णव आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन

किया है। वे यह जानते हैं कि वैष्णव धर्म हिंसा के विरोध में ही उठा था। अतः समाज को मन, वचन, कर्म से अहिंसक बनाने का प्रयत्न वैष्णव धर्म ने ही किया। यदि बुद्ध के समय में उठी हुई अहिंसा की लहर वैष्णव धर्म के द्वारा हम तक न पहुँची होती तो आज हम महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलनों को एकदम असफल या अव्यावहारिक पाते। वैष्णव धर्म ने जनता की आत्मा को ईश्वर-विश्वास से दृढ़ किया; उसने भक्ति द्वारा समाज के हृदय का परिष्कार किया, उसने व्यक्तिगत आचरण पर बल देकर समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा की।

जब हम भक्तों और समाज में संबंध जोड़ने बैठते हैं तो अजीब-अजीब बातें कहने लगते हैं। क्या भक्तों का समाज से कोई संबंध है? भक्त समाज में हैं ही कहाँ? उनका साहित्य पराजय, आत्म प्रतारण और अंधविश्वास का साहित्य है। भक्तों ने ईश्वरवाद का भुलावा देकर हमें शताब्दियों तक मुसलमानों का गुलाम बनाये रखा। उन्होंने पाखंड और परलोकवाद को आश्रय दिया। उन्होंने व्यक्तित्व के परिष्करण पर बल देकर समाजत्व की उपेक्षा कराई। भक्त-काव्य पलायनवादी साहित्य है। इस प्रकार के भ्रामक विचार आज हममें घर किये हैं। विचारों को ही सब कुछ माननेवाले लोग यह नहीं जानते कि समाज एक व्यापक वस्तु है और उसमें वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में रहनेवाले मनुष्यों का भी स्थान है। वानप्रस्थी और सन्यासी भी समाज के सदस्य हैं और उसपर प्रभाव डालते हैं। भक्त तो समाज में रह कर जीविका चलाते थे या समाज को ही अपना कर्मक्षेत्र बनाये हुये थे। संतों (कबीर, दादू, नानक प्रभृति निर्गुणवादी भक्तों) ने तो अपना-अपना व्यवसाय और लौकिक व्यवहार भी पूर्णतया बनाये रखा। वे बराबर समाज के सदस्य (गृहस्थ) रहे। कृष्णभक्तों का संबंध बड़े-बड़े मंदिरों से था जहाँ जनता उनके गान-कीर्तन-उपदेश को सुनने के लिये प्रतिदिन उपस्थित होती थी। वस्तुत मंदिर ही मध्ययुग में समाज के केन्द्र हो रहे थे और जनता को वहीं

से धर्म-ज्ञान के संदेश मिलते थे। इस प्रकार राजशक्ति खोकर हिन्दू जाति और हिन्दू समाज वृन्दावन-मथुरा के कृष्णमंदिरों, अयोध्या के राम-मंदिरों और काशी के मंदिरों एवं पंडितों के निवास-स्थानों में केन्द्रित हो गये थे। इन्हीं केन्द्रों से भक्ति का संदेश समाज तक पहुँचा और उसने समाज को आध्यात्मिक और नैतिक कितने ही अमूल्य संदेश दिये एवं उसकी स्थिति को डाँवाडोल होने से बचा लिया।

हिन्दी भक्ति-काव्य में भक्ति-भावना में तो कोई विशेष अन्तर नहीं है। चाहे वह निर्गुण के प्रति संचालित हो, चाहे सगुण के, परन्तु विचार-धारा में थोड़ा भेद है। इसी भेद के कारण भक्त कवियों की दो श्रेणियाँ हो गई हैं—संत और भक्त। दोनों श्रेणियों में अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कुछ नैतिक गुणों का संग्रह आवश्यक बताया गया है। ये गुण हैं—अहिंसा, संतोष, दया, क्षमा, शील, सार-संग्रह, सत्य भाषण, कामिनी-कंचन-त्याग, सत्संग, विचार-शुद्धि, जीव-दया। दोनों की भक्ति मुख्यत. रागात्मक है। संसार से विरक्ति और इष्टदेव में गहरी अनुरक्ति। परन्तु अरूप के उपासक संतों ने जहाँ मूर्ति-पूजा, वर्णाश्रम संस्था, जाति विभेद, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, श्राद्ध, नमाज आदि बाह्याचार और माला-कंठी आदि बाह्याडंबर का विरोध किया, वहाँ भक्त कवि पौराणिक आचार-विचारों और पूजा के विधि-विधानों को लेकर चले।

संत ऊँचे दरजे के साधक थे और उनकी वाणी उनकी आध्यात्मिक साधनाओं को भली-भाँति प्रकाशित कर सकी है। आध्यात्मिक मिलन और विनोद के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के संग्रह का आदेश किया है, वे प्रत्येक समाज के लिए प्रत्येक समय उपादेय हैं। उन्होंने साधना के बाह्य उपचारों की अवहेलना की। यह अधिकांश में उनकी सामाजिक स्थिति का फल था। उन्होंने समझ लिया था कि इन बाह्योपचारों ने आडम्बरों का रूप

ग्रहण कर लिया है और ये जनता की जीवनशक्ति का शोषण कर रहे हैं। श्रम के नाते वर्ग बने जा रहे हैं। अतः उन्होंने वाह्योपचारों का विरोध कर उन मूल नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर संकेत किया जा सब धर्मों में समान रूप से प्रशंसित थे। वह युग धार्मिक संघर्षों का युग था। दो प्रधान धर्म-प्राण संस्कृतियाँ टक्कर ले रही थीं। अतः दोनों जातियों को एक सूत्र में बाँधने के लिये यह आवश्यक था कि उन्हें समान धरातल पर लाया जाय। संतों ने यह बात चार प्रकार से की। उन्होंने पूजाराधना के वाह्योपचारों और विधि-विधानों का निषेध एवं खंडन किया, समान रूप से आदर पाये हुए नैतिक तत्त्वों पर बल दिया, पारिभाषिक शब्दों की एकता की घोषणा की और अन्ततः एक सामान्य भक्ति-पथ का निरूपण किया। इस सामान्य भक्ति-पथ को हम निर्गुण भक्ति का नाम दे सकते हैं जिसमें एक ओर सूफ़ियों के सिद्धान्तों को स्थान मिला है और दूसरी ओर अद्वैत के आधार पर प्रचलित हिन्दू भक्तिवाद (वेदांत) भक्ति को। वास्तव में इन दोनों में कोई भेद भी नहीं था। धार्मिक एकता के आधार पर हिन्दू-मुसलमानों में एकता उत्पन्न करने का ध्येय सफल नहीं हुआ। कारण था कि हिन्दू विजित थे, मुसलमान विजेता; मूल में राजनैतिक विरोध भी काम कर रहा था। शताब्दियों की संकीर्णता के कारण हिन्दुओं ने आगे बढ़ना छोड़ दिया था। एक प्रकार से वे नवागन्तुकों का सामाजिक वहिष्कार किये हुए थे। सच तो यह है कि परिस्थिति इतनी सरल नहीं थी जितनी संतों ने समझी थी परन्तु इस असफलता के कारण उनके प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं होती। इसी प्रकार अवर्ण-सवर्ण समस्या भी हल नहीं हुई। शक्ति सवर्णों के हाथ में थी। अधिकांश संत अवर्णों में हुए। सवर्णों ने उनके संदेशों को संदेह की दृष्टि से देखा और वर्ण-भेद मिटाने की उनकी चेष्टा का विरोध किया। वस्तुतः रामानन्द के बाद यह विरोध और भी तीव्र हो गया। भक्तों ने "हरि को भजै सो हरि का होई" सिद्धांत के अनुसार

भक्त हरिजनों (अछूतों) और भक्त यवनों को भी आदर का पात्र माना, परन्तु वे इससे आगे नहीं बढ़े।

सवर्ण-भक्त मानवता की भूमि पर उतना आगे नहीं बढ़े जितना संत, परन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि वे प्रतिक्रियावादी थे। उनकी सहानुभूति का द्वार सब के लिए खुला था, परन्तु वर्णाश्रम संस्था और प्राचीन आर्य संस्कृति के पोषक थे। उन्होंने विधर्मियों के सामाजिक बहिष्कार की बात इसलिए उठाई कि जिन प्राचीन मूल्यों को वे महत्त्व देते थे, वे और किसी तरह बच ही नहीं सकते थे। वह युग ही धर्मान्धता का युग था। उनके लिए यही बहुत था कि वे हिन्दुओं को आत्मविश्वासी बनाये रखें। हिन्दुओं का भी कुछ अपना था। सहस्रों वर्षों से दर्शन, धर्म और साहित्य की जो त्रिवेणी उत्तर भारत में बह रही थी, उसमें उतर कर हमारे भक्त-कवियों ने 'भक्ति' के जो मोती प्राप्त किये वही उन्होंने अनेक हारों में अनेक विधियों से गूँथ कर अपने इष्टदेव को अर्पण किये।

संतों और भक्तों का काव्य हिन्दी काव्य-साहित्य की सबसे अमूल्य संपत्ति है। जहाँ संतों का काव्य सहज प्रतिभा से आन्दोलित, समान मानव-भूमि का खोजी और निरलंकार निर्लेप है वहाँ भक्तों का काव्य प्राचीन दर्शन, धर्म, साहित्य और शास्त्र की अनेक भंगिमाओं से भूषित और भारतीय संस्कृति के जीवनरस से अनुप्राणित है। वैयक्तिक जीवन की सबसे सुन्दर साधनाएँ उसमें प्रतिफलित हैं। सूरसागर, रामचरितमानस, विनयपत्रिका, हित चौरासी, बीजक, रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत और मीरा की पदावलियों के रूप में जो साहित्य तीन सौ वर्ष पार करके आज हमें प्राप्त है, सामूहिक रूप में उससे श्रेष्ठ साहित्य संसार की किसी भाषा में नहीं मिलेगा। फिर यह साहित्य से भी बड़ी चीज़ है। यह तो प्राणों की साधना है। हृदय इसको समझता है और प्राण इसे पहचानता है। सूर और तुलसी की राम-कृष्ण कथा ने जनता के लिये एक साथ प्रार्थना-भवन, शिक्षागृह और कला-मण्डप का निर्माण

किया है। परन्तु कबीर और मीरा का काव्य तो उनके वैयक्तिक तेज और माधुर्य में डूब कर एकदम अलौकिक हो उठा है। उसके रस में विभोर होकर मनुष्य दर्शन, धर्म, साहित्य और कला से एकदम ऊपर उठ जाता है।

जो हो, यह निश्चित है कि हमारी काव्य-परंपरा की सबसे सुन्दर मणि भक्तों और संतों का काव्य ही है। मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति का हृदय-मन जैसा इस साहित्य में प्रतिबिंबित है, वैसा और कहाँ मिलेगा? कहाँ आकाश-चुंबि ऋषियों और दार्शनिकों का अपार ज्ञान और कहाँ मंदिरों और देवपीठों में होने वाले भजन-कीर्तन और भजनानंदी लोग? कहाँ अमर लोक की कलनिनादिनी मंदाकिनी, कहाँ इस हमारे मृत्य लोक में प्रवाहित कल-कल्लोलिनी जगततारिणी गंगा भक्त कवि न होते, उनका भगीरथ प्रयत्न न होता तो स्वर्ग की इतनी सुषमा पृथ्वी पर कैसे उतरती? इतना कलावैभव, इतना कल्पना-ऐश्वर्य, इतना अपार माधुर्य--फिर इतनी शांति, इतना वैराग्य, परोक्ष के प्रति इतना उत्कट राग। संसार की किस भाषा, इस विराट् पृथ्वी की किस जाति का साहित्य हमें इतना कुछ दे सकेगा जितना हिन्दी के भक्ति-काव्य ने हमें दिया है?

'आलोचनात्मक अध्ययन'

माला

जो पुस्तक आपके हाथ में है वह हमारी 'आलोचनात्मक अध्ययन' माला का एक पुष्प है। इस माला में हम हिन्दी के कवियों, कथाकारों और साहित्य मनीषियों का संक्षिप्त विवेचनात्मक, आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित कर रहे हैं। अन्य प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिकों और कलाकारों को भी हम साथ-साथ लेना चाहते हैं। यही नहीं कालान्तर में शिक्षा के महान् साहित्यिकों के भी इस प्रकार के अध्ययन हम उपस्थित करेंगे। इस माला में डा० रामरतन भटनागर की निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं :--

कवियों का अध्ययन		उपन्यासकारों का अध्ययन	
विद्यापति	२॥)	प्रेमचन्द	२॥)
कबीर	२॥)	प्रसिद्ध रचनाओं का अध्ययन	
सूरदास	२॥)	कामायनी	२॥)
मलिक मुहम्मद जायसी	२॥)	महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का अध्ययन	
तुलसीदास	२॥)	छायावाद	२॥)
नंददास	२॥)	रहस्यवाद	२॥)
केशवदास	२॥)	हिन्दी-कविता	२॥)
बिहारी	२॥)	हिन्दी-गद्य	२॥)
भारतेन्दु हरिश्चन्द	२॥)	हिन्दी भक्ति-काव्य	२॥)
मैथिलीशरण	२॥)	साहित्य के विभिन्न अंगों का अध्ययन	
प्रसाद	२॥)	साहित्य समीक्षा	२॥)
निराला	२॥)	हिन्दी साहित्य	४)

किताब महल ० प्रकाशक ० इलाहाबाद